

ISSN: 0971-8478

सितम्बर 2023



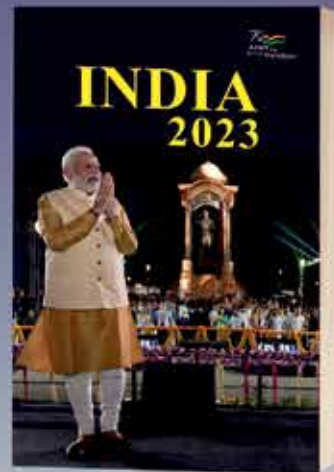
आजकल

1945 से निरंतर प्रकाशित
साहित्य और संस्कृति का मासिक



रंगमंच : दशा एवं दिशा

भारत 2023



**भारत के प्रांतों, केंद्रशासित प्रदेशों,
भारत सरकार के मंत्रालयों और विभागों तथा
नीतियों, कार्यक्रमों और उपलब्धियों की
आधिकारिक जानकारी देने वाला
वार्षिक संदर्भ ग्रंथ**



ऑर्डर के लिए संपर्क करें :

फोन : 011-24367260

ई-मेल : businesswng@gmail.com

हमारी पुस्तकें ऑनलाइन खरीदने के लिए

कृपया www.bharatkosh.gov.in पर जाएं।

प्रकाशन विभाग

सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय,

भारत सरकार

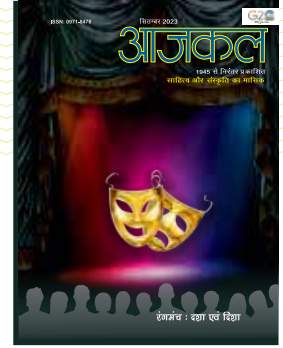
सूचना भवन, सी जी ओ कॉम्प्लेक्स,

लोधी रोड नई दिल्ली -110003

वेबसाइट : www.publicationsdivision.nic.in

सूचना भवन की पुस्तक दीर्घा में पधारें

इस अंक में



रंगमंच : दशा एवं दिशा

- 5 हिन्दी नाटक : इतिहास के परिप्रेक्ष्य से
हरराम सिंह
 - 10 ऐतिहासिक नाटकों के आधुनिक सन्दर्भ
कुलभूषण मौर्य
 - 13 पणिकर और आधुनिकता
पुष्पा बरनवाल
 - 15 बादल सरकार : पारम्परिक रंगमंच के पुरोधा
शैलेन्द्र चौहान
 - 17 साक्षात्कार : गाँव-गाँव तक पहुँचेगा रंगमंच का संदेश
(एनएसडी के निदेशक रमेश चन्द्र गौड़ से बातचीत) संजीव श्रीवास्तव
 - 20 रंगमंच की विधाएँ : कैरियर की संभावनाएँ
दनिश इक्रबाल
 - 24 भूमंडलीकरण, ओटीटी का बाज़ार और स्त्रियों की स्थिति
सुनीता
 - 26 साहित्यकार पिता की अविस्मनीय यादें
अतुल कुमार
 - 28 साक्षात्कार : बहुआयामी ताना-बाना : नाटक की आत्मा
(रंग शिल्पी हबीब तनवीर से बातचीत) महावीर अग्रवाल
- #### शताब्दी वर्ष
- 30 देव आनन्द : क्रद से ऊँची शस्त्रियत
विनोद तिवारी
- #### हिन्दी दिवस
- 32 एक वैकल्पिक इतिहास की ज़रूरत
देवेन्द्र चौबे

जन्मदिवस पर विशेष

- 37 अनूप शर्मा : भारतीय सांस्कृतिक चेतना के कवि
सुधांशु चतुर्वेदी
 - 40 कवि उद्भ्रान्त : विलक्षण काव्य-साधना का अथक यात्री
दिनेश कुमार माली
- #### कहानी
- 42 पतंगबाजी
प्रेमकुमार गौतम
- #### कविताएँ एवं गज़लें
- 44 बाबा और बाबू
देवेन्द्र आर्य
 - 45 आत्मसंवाद
अशोक कुमार
 - 46 गज़लें : न पूछो आजकल
अशोक अंजुम
- #### पत्रिका आजकल
- 47 बोलती है बात
राकेश कुमार सिंह
- #### मूल्यांकन
- 51 आलोचकीय विवेक का उभरता मानचित्र
जनार्दन
 - 52 मनुष्य प्रतीक और तकनीक के जंजाल में कैद
चित्तरंजन कुमार
- #### पुस्तक परिचय
- 54 रेडियो-नाटक लेखन
मैंने आवाज़ को देखा है
सीमा रानी
ऋतुश्री

मुख्य सम्पादक : कुलश्रेष्ठ कमल

सम्पादक : फरहत परवीन

सम्पादकीय पत्र-व्यवहार

सम्पादक : आजकल प्रकाशन विभाग, कमरा नं. 601डी, सूचना भवन,
सी.जी.ओ. कॉम्प्लेक्स, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003 दूरभाष : 011-24362915

संयुक्त निदेशक (उत्पादन) : डी.के.सी. हृदयनाथ

आवरण सज्जा : बिन्दु वर्मा

सदस्यता शुल्क : वार्षिक : 230 रुपये (सामान्य डाक से)

434 रुपये (रजिस्टर्ड डाक से)

पत्रिका न मिलने की शिकायत अथवा आजकल की सदस्यता
लेने या पुराने अंक मँगाने के लिए pdjucir@gmail.com पर ईमेल

करें या सम्पर्क करें- दूरभाष : 011-24367453

सदस्यता सम्बन्धी पत्राचार का पता :

अभिषेक चतुर्वेदी, सम्पादक (प्रसार), पत्रिका एकांश,
प्रकाशन विभाग, कमरा नं. 779, सूचना भवन,
सी.जी.ओ. कॉम्प्लेक्स, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003

प्रकाशन विभाग के देशभर में स्थित विक्रय केन्द्रों की सूची के लिए देखें पृ.सं. 9

प्रसंगवश

जीवन के विविध रंगों को मंच पर प्रस्तुत करने की जीवन्त विधा ही रंगमंच या थिएटर है। इसमें अभिनय, नृत्य, संगीत एवं चित्र सहित अनेक कलाओं और विभिन्न प्रकार के कौशलों और तकनीकों का समावेश होता है।

सदियों पहले भरत मुनि द्वारा 'नाट्यशास्त्र' की रचना से नाटक विधा यानी रंगमंच का प्रारम्भ माना जाता है। रंगमंच के सभी रूपों— अभिनय, मंच-संयोजन, वेश-भूषा, पार्श्व गायन-वाचन, संगीत, मंच-सज्जा के विस्तृत वर्णन वाली इस रचना की महत्ता को देखते हुए 'इसे पंचमवेद' की संज्ञा दी गई। जहाँ तक आधुनिक रंगमंच की बात है तथा हिन्दी नाट्य के सिद्धान्तों को प्रयोगात्मक रूप देने का सम्बन्ध है तो निःसन्देह एवं निर्विकार रूप से इसका श्रेय भारतेंदु हरिश्चन्द्र को जाता है। हिन्दी रंगमंच के इस पितामह की अमर कृति 'अंधेर नगरी' नाटक की प्रासंगिकता आज भी बरकरार है और इसका मंचन जब-तब होता रहता है। इसके पश्चात नाटककार व कवि जयशंकर प्रसाद ने 'चन्द्रगुप्त' और 'अजातशत्रु' सहित अपने अन्य नाटकों से हिन्दी भाषा रंगमंच को समृद्ध किया। इसी क्रम में रामवृक्ष बेनीपुरी के साथ-साथ नाट्य-इतर विधाओं में प्रसिद्ध साहित्यकारों—प्रेमचन्द, माखनलाल चतुर्वेदी, मैथिलीशरण गुप्त, सुमित्रानन्दन पंत सहित कई रचनाकारों ने भी नाट्य-लेखन किया। स्वतन्त्रता के पश्चात के नाटककारों में जगदीश चन्द्र माथुर, धर्मवीर भारती, मोहन राकेश, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, मुद्राराक्षस, भीष्म साहनी, मन्नू भण्डारी और विष्णु प्रभाकर सहित कई नाम इस सूची में जुड़े। एक अच्छी-खासी लम्बी फ्रेहरिस्ट है, जिन्होंने तब से आज तक रंगमंच विधा को पल्लवित, पोषित एवं परिमार्जित किया है। आज़ादी से पूर्व भारतीय नाट्य संघ-इष्टा से लेकर मौजूदा काल तक की इस अवधि के दौरान राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय—एन.एस.डी., इब्राहिम अल्काज़ी, के.एन. पणिकर, गिरीश कर्नाड, अनुराधा कपूर, विजय तेंदुलकर, बी.बी. कारंत, रामगोपाल बजाज, मोहन महर्षि, नीलम मानसिंह, माया कृष्णा राव, हबीब तनवीर, सफ़दर हाशमी, बंसी कौल, भानु भारती, केवल धालीवाल, त्रिपुरारि शर्मा, रतन थियम, कीर्ति जैन, देवेन्द्रराज अंकुर, सावित्री माँ, कन्हाई लाल, दानिश इक़बाल, अरविन्द गौड़, सहित अनेक नाटककारों एवं निर्देशकों ने भारतीय रंगमंच को आगे बढ़ाया और बढ़ा रहे हैं।

विदेशों में पढ़ाई करने के बावजूद प्रसिद्ध नाटककार हबीब तनवीर ने अपनी कर्मस्थली भारत के पिछड़े गाँवों को बनाया। छत्तीसगढ़ी लोक कथाओं और वहीं के स्थानीय लोगों के समूह बनाकर छत्तीसगढ़ी में ही नाटक प्रस्तुति से लेकर तनवीर ने 'विशाखादत्त', 'भवभूति' जैसे पौराणिक संस्कृत नाटक के साथ-साथ यूरोपियन क्लासिक्स शेक्सपियर, मोलियर, ब्रेख्त, लोर्का का भी मंचन किया। उनका अप्रकाशित संभवतः अंतिम साक्षात्कार भी इस अंक में प्रकाशित किया जा रहा है।

रंगमंच एवं नाट्य विधा में असीम क्षमताएँ हैं। इस अंक का प्रयोजन रंगमंच के इतिहास पर विहंगम दृष्टि डालते हुए वर्तमान परिदृश्य और दशा एवं दिशा पर मनन-चिन्तन करने के उद्देश्य के साथ किया जा रहा है। जिससे इसके महत्वपूर्ण बहुआयामों की विशेषताओं, कमियों और संभावनाओं पर विचार-मंथन हो सके। एक नज़र डालें तो हम पाएँगे कि अनेक निर्देशकों ने अनगढ़ नवोदित कलाकारों को लेकर नाटक किए। धीरे-धीरे यही कलाकार मँझे हुए परिपक्व कलाकार के रूप में लोगों के सामने आए। राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नई दिल्ली के निर्देशक से बेबाक बातचीत और रंगमंच को गाँव-गाँव और छोटे क़स्बों तक में लोकप्रिय करने के उनके विचार और योजना की जानकारी इस अंक में दी जा रही है। महानगरों और यहाँ तक टायर टू तथा टायर थ्री नगरों में सभागार के किराए इतने ज़्यादा हैं कि सभी सुविधाओं से परिपूर्ण स्थान की वहन क्षमता हर किसी मण्डली या समूह के बूते की बात नहीं। अतः क़स्बों और देहातों में रंगमंच ले जाना और भी आवश्यक हो गया है।

आज इस बात की भी आवश्यकता है कि शिक्षण की विधि के रूप में नाटक का विकास हो। नाटक और रंगमंच के विकास की दिशा प्रशस्त करने के लिए इसे एक विषय का दर्जा दिया जाना चाहिए। इस बात की पुष्टि अनेक बार हुई है कि रंगमंच समाज का आईना ही नहीं है, बल्कि परिवर्तन का सशक्त साधन भी है। यह सभी को जीवन-दृष्टि देता है। यह जीने का सलीका तो है किन्तु साथ ही जीविका का साधन और माध्यम भी बन सकता है। कैरियर के रूप रंगमंचन, उसके विभिन्न विभागों और कार्यों और थिएटर में संभावनाओं और विकल्पों पर एक आलेख में इसी अंक में विस्तारपूर्वक चर्चा की गई है। इसमें शुरुआत से लेकर अब तक हुई क्रान्तिकारी तकनीकी बदलावों, खासतौर पर कोविड 19 महामारी के बाद आए परिवर्तनों पर भी नज़र डाली गई है। अँग्रेज़ी कवि, नाटककार और पुनर्जागरण युग के अभिनेता विलियम शेक्सपियर के 1599 में रचित नाटक 'एज़ यू लाइक इट' से लिए गए दार्शनिक शब्दों की मानें तो "यह संसार एक रंगमंच है और सभी स्त्री तथा पुरुष केवल अभिनयकर्ता"।

अपने अभिनय से बुलंदियों पर पहुँचने वाले और फ़िल्म समीक्षकों और आलोचकों की दृष्टि में हिन्दी सिनेमा के पहले सुपर स्टार देव आनन्द के जन्म के सौ वर्ष इस माह की 26 तारीख को पूरे हो रहे हैं। इस 'गाइड' से सम्बद्ध कुछ अनकहे और अप्रकाशित अमूल्य और अविस्मरणीय क्षणों को एक संस्मरण लेख द्वारा साझा किया गया है।

सामूहिकता और संवाद की संस्कृति के विकास में भाषा का अपना योगदान होता है। इस माह हिन्दी दिवस मनाने के साथ-साथ हिन्दी साहित्य के वैकल्पिक इतिहास की ज़रूरत बताते एक विचारोत्तेजक आलेख में लेखक ने अपने नए पक्ष का प्रस्तुतीकरण किया है।

इसी माह बुद्ध के सम्पूर्ण जीवन चरित्र पर महाकाव्य 'सिद्धार्थ' के रचयिता कवि अनूप शर्मा की जयंती भी है। सन् 1900 में जन्मे इस छायावादी युगीन कवि पर एक आलेख भी इस अंक का एक हिस्सा है।

उद्भ्रान्त नाम से सुप्रसिद्ध कवि-लेखक रमाकांत शर्मा के 75 वर्ष इसी माह 4 तारीख को पूरे हो रहे हैं, उन पर एक आलेख भी इस अंक में दिया जा रहा है।

आशा है पाठकों को रंगमंच केन्द्रित यह अंक अच्छा लगेगा।



हिन्दी नाटक इतिहास के परिप्रेक्ष्य से

हरeram सिंह

भारत में नाटक लेखन की परम्परा बहुत प्राचीन है। द्वितीय शती में जन्मे भरत मुनि ने अपने ग्रन्थ 'नाट्यशास्त्र' में नाटक को 'पंचम वेद' की संज्ञा दी है। इस ग्रन्थ के षष्ठम एवं सप्तम अध्याय में रसों की संख्या आठ बताई गई है। नाट्यशास्त्र में कुल 36 अध्याय और लगभग 5,000 श्लोक हैं। पंडित बलदेव उपाध्याय ने 'संस्कृत आलोचना' में लिखा है, दृश्य काव्य का सामान्य नाम है। 'रूपक' और 'नाटक' इसी का एक प्रधान अंग होता है। रूपक में किसी वस्तु के ऊपर तत्सदृश अन्य वस्तु का आरोप किया जाता है। रंगमंच पर नट तथा नटी, राम तथा सीतादि पात्रों का आरोप किया जाता है। इसलिए नाटक को भी 'रूपक' कहा गया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में लिखा है, "विलक्षण बात यह है कि आधुनिक गद्य साहित्य की परम्परा का प्रवर्तन नाटकों से हुआ। भारतेन्दु के पहले 'नाटक' के नाम से दो-चार ब्रजभाषा में लिखे गए थे। उनमें महाराज विश्वनाथ सिंह के 'आनन्द रघुनन्दन' नाटक छोड़ और किसी में नाटकत्व न था। हरिश्चन्द्र ने सबसे पहले 'विद्यासुन्दर' नाटक का बांग्ला से सुन्दर हिन्दी में अनुवाद करके संवत् 1925 में प्रकाशित किया। उसके पहले वे 'प्रवास नाटक' लिख रहे थे पर वह पूरा न हुआ किन्तु भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने पिता गिरिधरदास कृत 'नहुष' नाटक को हिन्दी का प्रथम नाटक माना जो कि सन् 1859 ई. में प्रकाशित हुआ। वे राजा लक्ष्मण सिंह कृत 'शकुंतला' (1862 ई.) को दूसरा एवं अपने नाटक 'विद्यासुन्दर' (1868 ई.) को तीसरा और श्रीनिवास दास के नाटक 'तप्ता संवरण' (1883 ई.) को चौथा मानते थे। भारतेन्दु का जन्म 1850 ई. में हुआ था। उनके पिता सेठ गिरिधरदास स्वयं एक कवि और नाटककार थे। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने स्वयं 'भारत दुर्दशा' नाटक को 'नाट्यरसिक' की संज्ञा दी है। नाटक दृश्य काव्य के रूप में भी जाना जाता है। रामकली सराफ ने यह माना है कि पाश्चात्य विद्वानों में मैक्समूलर, कीथ, मैकडोनल आदि ने नाटकों के प्रारम्भ को भारतीय ज़मीन से सम्बन्धित बताया है। उन्होंने भारतीय नाटकों के मुख्य तत्त्व व नाटककारों के सम्बन्ध में

लिखा है- "नाटक में मुख्य रूप से तीन तत्त्वों का सन्निवेश भरतमुनि ने स्वीकार किया है- वस्तु, नेता और रस। महाकवि भास, शूद्रक, अश्वघोष, कालिदास, भवभूति, राजशेखर, हर्ष, विशाखदत्त आदि नाटककारों के नाटकों ने विश्व स्तर पर ख्याति प्राप्त की।" संस्कृत के आचार्यों ने नाटक को काव्य ही माना है और बताया है कि काव्यों में नाटक ही रमणीय होता है-काव्येषु नाटकं रम्यम्। इतिहास के पन्नों पर हर्षवर्धन की मृत्यु सातवीं शताब्दी में बताई गई है-एक संक्रमण काल के तौर पर रेखांकित किया जाता है। 17वीं शताब्दी में मुश्किल से चार-पाँच नाटक देखने को मिलते हैं जिसके सम्बन्ध में प्रोफ़ेसर सराफ़ ने 'नाटक-सी लगने वाली कृतियाँ' कहकर 'करुणाभरण', 'हनुमान्नाटक', 'रुक्मणी-हरण', 'शकुंतला' को रेखांकित किया है। फिर भी हिन्दू जनमानस त्योहारों के बहाने रामलीला, रासलीला, कठपुतली जैसी लौकिक परम्परा नाटकों का निर्वहन कर लेती थी। सब्र करने वाली बात यह है कि संस्कृत नाटकों के अनुवाद की परम्परा बन्द नहीं हुई थी, यह अलग बात है कि लोक रंजन के ख्याल से ही कुछ नाटक रचे जा रहे थे। वेशभूषा और प्रसाधन के अभाव के बावजूद भी आमजन त्योहारों के अवसर पर इन नाटकों के द्वारा अपनी धार्मिक भावनाओं का पोषण कर लेते थे। कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि अगर त्योहार न होते तो (इस बीच) नाटकों की परम्परा, इस काल में बिल्कुल सूख ही जाती!

हिन्दी में मौलिक नाटकों की शुरुआत 19वीं शताब्दी से मानी जाती है। अंग्रेजों के आगमन की वजह से हिन्दुस्तानी लोगों को कुछ नई दृष्टि मिली-कारण कि कुछ कॉलेज और शिक्षण संस्थाएँ खुलीं। अंग्रेजी रंगशालाओं का विकास क्रमशः कोलकाता, बम्बई और मद्रास में हुआ। 1830 ई. में रीवा नरेश महाराजा विश्वनाथ सिंह का 'आनन्द रघुनन्दन' तथा 1859 ई. में गोपाल चन्द्र का 'नहुष' नाटक देखने को मिलता है। विश्वनाथ त्रिपाठी ने 'हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास' में लिखा है- "भारतेन्दु ने काफ़ी संख्या में मौलिक नाटक लिखे और बांग्ला एवं संस्कृत नाटकों का अनुवाद भी किया। 'चन्द्रावली' में

प्रेम का महत्व है। 'भारत दुर्दशा' में देश की दशा का और 'विषय विषमौषधम्' में देशी रियासतों के कुचक्रों के जीवन की झाँकी है। 'अंधेर नगरी' उनका सर्वाधिक महत्वपूर्ण व्यंग्य-नाटक है जो सत्ता की विवेकहीनता का रूप सामने लाता है।" गणपति चन्द्रगुप्त ने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के आधुनिक हिन्दी नाटकों के विकास के योगदान के सम्बन्ध में 'साहित्यिक निबन्ध' पुस्तक में बहुत कुछ लिखा है। उन्होंने भारतेन्दु के सम्बन्ध में बताया है कि, उन्हें संस्कृत, प्राकृत, बांग्ला व अंग्रेजी के नाट्य शास्त्र का अच्छा ज्ञान था। उनकी रचना 'नाटक' से सिद्ध होती है। उन्होंने नाटकों के अभिनय की व्यवस्था भी की थी तथा स्वयं अभिनय किया था। इसके सम्बन्ध में गणपतिचन्द्र गुप्तजी लिखते हैं, "यदि हम एक ऐसा नाटककार ढूँढ़ें, जिसने नाट्यशास्त्र के गम्भीर अध्ययन के आधार पर नाट्यकला-सम्बन्धी सैद्धांतिक ग्रन्थ लिखा हो, जिसने प्राचीन और नवीन, स्वदेशी और विदेशी नाटकों का अध्ययन व अनुवाद भी किया हो, जिसने वैयक्तिक सामाजिक एवं राष्ट्रीय समस्याओं को लेकर अनेक पौराणिक, ऐतिहासिक एवं मौलिक नाटकों की रचना की हो और नाटक की रचना ही नहीं, अपितु उन्हें रंगमंच पर खेलकर भी दिखाया हो- इन सब विशेषताओं से संपन्न नाटककार हिन्दी में ही नहीं-समस्त विश्व साहित्य में केवल दो-चार ही मिलेंगे और उनमें भी भारतेन्दु का स्थान सर्वोच्च होगा।"

जयशंकर त्रिपाठी ने भी 'श्री चन्द्रावली नाटिका' की भूमिका देते हुए 'श्री चन्द्रावली नाटिका' की कथावस्तु को 'पुष्टिमागीय कृष्ण भक्ति की मधुर उपासना का निर्देशन' बताया है और यह भी कि इस नाटिका के तृतीय अंक में यह दिखाया गया है कि "चन्द्रावली कृष्ण के विरह में पागल हो रही है। कुटुंबीजनों का भी उस पर प्रतिबन्ध है। गोपियों से उसका दुःख देखा नहीं जाता। तीन गोपियाँ उसे कृष्ण से मिलाने का उपाय सोचती हैं। कृष्ण का किसी दूसरी गोपी से मिलना बिना राधा की अनुमति के नहीं हो सकता।" इस नाटक में माधवी उन्हें मनाने का जिम्मा लेती है। कृष्ण मंजरी कुटुंबजनों को सम्भालती है। इस तरह देखा जाए तो 'चन्द्रावली नाटिका' प्रेम, स्त्रियों के चातुर्य भाव का निरूपण, कृष्ण की सहजता आदि का ऐसा प्रस्तुतिकरण है, जिससे बिन प्रभावित हुए पाठक नहीं रह सकते। यह भारतेन्दु की नाट्य-कला का सुन्दर नमूना है।

इनका नाटक 'भारत दुर्दशा' इनके चिन्तन, दूरदर्शिता, विद्रोही तेवर, देशभक्ति एवं अंधविश्वास के प्रति घोर अनासक्ति का उत्तम उदाहरण है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र अपने युग के प्रेरणा पुँज थे। उनकी प्रेरणा और प्रभाव से हिन्दी के अनेकों लेखक नाट्य-लेखन के क्षेत्र में प्रवृत्त हुए जिनमें श्रीनिवासदास, राधाकृष्ण दास, जंगबहादुर लाल, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', सीताराम वर्मा, प्रताप नारायण मिश्र, राधाचरण गोस्वामी मुख्य थे, जिनके क्रमशः 'रणधीर और प्रेममोहिनी', 'दुःखिनी बाला', 'भारतललना', 'भारत सौभाग्य', 'विवाह-विडम्बन', 'भारत दुर्दशा रूपक', 'तन-मन-धन' आदि प्रमुख हैं। भारतेन्दुयुगीन नाटकों का मुख्य स्वर सामाजिक उत्थान और देशभक्ति की भावना को तीव्रतर बनाने में है। हिन्दी साहित्य के इतिहास में नाटक के क्षेत्र में भारतेन्दु का योगदान चिरस्मरणीय है। भारतेन्दु ने हिन्दी नाटक को पारसी रंगमंच की अति-नाटकीय स्थितियों से उबारा और अश्लीलता से निकालकर नाटक की सार्थक भूमि पर खड़ा

किया। सूर्यभान, निड्डिलाल तथा तोताराम वकील भी इस युग के महत्वपूर्ण नाटककार रहे हैं। द्विवेदी युग में भारतेन्दु युग की तरह हिन्दी नाटकों का मौलिक विकास सम्भव नहीं हो पाया। नाटकों के लिए यह ह्रास का युग कहा जाता है। इस युग में भी बहुत-से नाटककारों ने नाटक लिखे जिनके नाटकों की विषयवस्तु धर्म, उपदेश, समाज सुधार, नैतिकता, राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना का विकास आदि थे। इस युग के रचनाकारों में विश्वंभर नाथ शर्मा, बद्रीनाथ भट्ट, मिश्र बन्धु, अयोध्या सिंह उपाध्याय, मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, चतुरसेन शास्त्री, प्रेमचन्द, रूपनारायण मिश्र तथा जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी हैं। पारसी थिएटर वाले नाट्य कम्पनियों के लिए मोहम्मद मियाँ 'रौनक', आगा मोहम्मद 'हस्र', हुसैन मियाँ 'जरीफ़', सैयद मेहँदी हसन 'अहसान', पंडित माधव शुक्ल तथा बलदेव प्रसाद खरे मुख्य हैं। एक तरह से देखें तो द्विवेदी युग नाटक के क्षेत्र में पूर्व की अनुकृति मात्र साबित हुआ। उसमें मौलिक चिन्तन व रचनाउत्स का अभाव है। द्विवेदी युग के प्रमुख नाटककारों में बदरीनाथ भट्ट ने संस्कृत नाटक 'वेणी संहार' का 'कुरुवन दहन' नाम से अनुवाद किया। नाटककार वृंदा लाल वर्मा ने 'सेनापति ऊदल' (1902 ई.), गंगा प्रसाद गुप्त ने 'वीर जयमल' (1903 ई.), राधाचरण गोस्वामी ने 'श्रीदामा' (1904 ई.), भगवती प्रसाद ने 'वृद्ध विवाह' (1905 ई.), राम नारायण मिश्र ने 'जनक बड़ा' (1906 ई.), सुदर्शनाचार्य ने 'अनर्थ नलचरित' (1906 ई.), बदरी नाथ भट्ट ने 'चन्द्रगुप्त' (1915 ई.), कृष्ण प्रकाश सिंह ने 'पन्ना' (1915 ई.), हरिदास माणिक ने 'संयोगिता हरण' (1915 ई.), मिश्र बन्धु ने 'नेत्रोन्मीलन' (1915 ई.), माधव शुक्ल ने 'महाभारत पूर्वार्ध' (1916 ई.) तथा माखनलाल चतुर्वेदी ने 'कृष्णार्जुन युद्ध' (1918 ई.) जैसे नाटक लिखे।

हिन्दी नाटक के विकास को, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के बाद नया मोड़ देने का श्रेय जयशंकर प्रसाद (1889-1937) को जाता है। जयशंकर प्रसाद कवि के साथ-साथ एक बहुत अच्छे नाटककार थे। 'हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास' में बच्चन सिंह प्रसाद के रचनाकार से परिचय कराते हुए उनके नाटकों की दुनिया से बारे में बताते चलते हैं कि- "नाटकों पर पारसी रंग नाटकों का प्रभाव था। प्रसाद ने स्वयं लिखा है कि पारसी नाटकों के प्रभाव से जनसाधारण की मुख्य गुफा से शेर निकला करते थे।" प्रसाद ने अपने हिन्दी नाटकों के बल पर उसे एक नई भूमि व नई ऊँचाई प्रदान की। इतिहास का ज्ञान उनके पास प्रचुर था जिसकी बदौलत वे ऐतिहासिक पात्रों में जान फूँक देते थे। उनके आने से हिन्दी नाटक में नवीन प्रवृत्तियों का आगमन हुआ। इस युग के अन्य नाटककार भी इनसे प्रेरणा ग्रहण कर कोरी भावुकता से निकलकर, समसामयिक जीवन संघर्षों की सच्ची तस्वीर प्रस्तुत करने लगे। 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' के तृतीय-उत्थान के अंतर्गत रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है, "हिन्दी नाटकों के स्वतन्त्र विकास के लिए ठीक मार्ग तो यह दिखाई पड़ता है कि हम उनका मूल भारतीय लक्ष्य तो न रहें, पर उनके स्वरूप के प्रचार के लिए और देशों की पद्धतियों का निरीक्षण और उनकी कुछ बातों का मेल सफ़ाई के साथ करते चलें। अपने नाट्य-शास्त्र के विधान को ज्यों-का-त्यों लेकर हम आजकल चल नहीं सकते, पर उनका बहुत-सा रंग-रूप अपने

नाटकों में ला सकते हैं जिसमें भारतीय परम्परा के प्रतिनिधि वे बने रह सकते हैं।”

रामचन्द्र शुक्ल का यह सुझाव निश्चित ही प्रगतिशीलता का द्योतक है। जयशंकर प्रसाद ने बहुत हद तक ऐसा निर्वाह अपने नाटकों में किया है। प्रसाद ने दर्जनभर से ज्यादा नाटक हिन्दी साहित्य को दिए, जिसमें ‘सज्जन’ (1910 ई.), ‘कल्याणी परिणय’ (1912 ई.), ‘प्रायश्चित’ (1913 ई.), ‘राजश्री’ (1915 ई.), ‘विशाख’ (1921 ई.), ‘अजातशत्रु’ (1922), ‘जन्मेजय का नागयज्ञ’ (1926 ई.), ‘कामना’ (1927 ई.), ‘स्कंदगुप्त’ (1928 ई.), ‘एक घूँट’ (1930 ई.), ‘चन्द्रगुप्त’ (1931 ई.) तथा ‘ध्रुवस्वामिनी’ (1933 ई.) मुख्य हैं। जयशंकर प्रसाद ने प्राचीन नाट्यशास्त्र के कई अवांछनीय अवयवों का त्याग कर अपने नाटकों को पुराने घेरे से मुक्त किया है। रामचन्द्र शुक्ल ने भी इस बात को स्वीकारा है कि प्रसाद ने मृत्यु, वध और युद्ध जैसी वर्जित मान्यताओं को भी अपने नाटकों में स्थान दिया है। एक तरह से देखें तो उनके लगभग सभी ऐतिहासिक नाटकों में ये तत्त्व कम या ज्यादा जरूर दिखाई पड़ते हैं और ऐतिहासिक नाटकों की यह मजबूरी भी है वरना यथार्थ का अंकन सम्भव नहीं हो पाता। ‘अजातशत्रु’ की कथा में विरुद्धक द्वारा कपिलवस्तु के जनसंहार की घटना का उल्लेख इतिहास में भी मिलता है। कारण कि शाक्यों ने धोखा देकर प्रसेनजित से शाक्य कुमारी की जगह दासी कुमारी से ब्याह करा दिया था। विरुद्धक को अपने पिता प्रसेनजित से सदैव अपमान मिलता रहता था, जिससे भड़ककर वह शाक्यों का विरोधी बन गया। यह नाटक छल, प्रेम, सत्ता, मैत्री, दुख, संताप से इतना भरा है कि पाठक-दर्शक उसमें डूब ही जाते हैं, न चाहते हुए भी बहुत कुछ करना मनुष्य की नियति बन जाती है!

‘चन्द्रगुप्त’ जयशंकर प्रसाद के सर्वश्रेष्ठ और चर्चित नाटकों में से एक है। ‘विशाख’ नाटक के सम्बन्ध में ‘हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास’ में दशरथ ओझा ने लिखा है, “इस नाटक की प्रायः समस्त घटनाएँ चैत्य और विहार को केन्द्र बनाकर निर्मित हैं। कानीर विहार के समीप विशाख और चन्द्रलेखा का प्रथम मिलन होता है। बौद्ध विहार का स्थविर चन्द्रलेखा को विहार में बन्द करता है। प्रेमानन्द वहीं से उसका उद्धार करता है। नरदेव का सखा महापिंगल चैत्य के पास बौद्ध-भिक्षु को इस निमित्त भेजता है कि वह चन्द्रलेखा को राजा नरदेव से विवाह करने के लिए प्रेरित करे। इस प्रकार समस्त कथा के केन्द्र में बौद्ध विहार, बौद्ध धर्म और बौद्ध भिक्षु हैं।” राजेंद्र प्रसाद सिंह ने भी स्थापना दी है कि- “गौतम बुद्ध भी प्रसाद को उतने ही प्रिय हैं, जितना उन्हें चन्द्रगुप्त मौर्य हैं।” जयशंकर प्रसाद ने अपने हिन्दी नाटकों के द्वारा हिन्दी नाटक के पिटारे को मूल्यवान खजाने से भर दिया है। इस उपलब्धि के लिए जयशंकर प्रसाद सदा स्मरण किए जाएँगे। प्रसाद युग के थोड़े ही बाद के बड़े नाटककारों में बड़ी इज्जत के साथ हरिकृष्ण प्रेमी का नाम भी लिया जाता है, उनका नाटक ‘रक्षाबन्धन’ आमजन में काफ़ी लोकप्रिय है। प्रसाद युग के नाटकों में चन्द्रगुप्त विद्यालंकार का ‘अशोक’ (1935 ई.), प्रेमचन्द के ऐतिहासिक नाटक ‘कर्बला’ (1928 ई.) और सामाजिक नाटक ‘संग्राम’ (1922 ई.) काफ़ी महत्वपूर्ण हैं। रामवृक्ष बेनीपुरी ने ‘अम्बपाली’ (1947 ई.) नाटक के द्वारा अम्बपाली की कला, प्रकृति के प्रति प्रेम, उसकी बुद्धिमत्ता

का दिग्दर्शन कराते हुए उसके अभिमान की ओर भी इशारा किया है। इस कृति को पृथ्वीराज कपूर और उनकी अन्यतम कलाकृति ‘पृथ्वी थिएटर’ को सप्रेम भेंट किया है। इस नाटक में भगवान बुद्ध के जाने से अम्बपाली और उसकी सखी चयनिका के मन के चित्रण से जीवन और जगत के कई रहस्य, जो बहुत आम हैं और बहुत ही कोमल- उनके दर्शन हो जाते हैं। यहाँ चयनिका बहुत खिन्न है और आप्रपाली को एहसास है कि बुद्ध की तरह वह भी मरकर ज़िन्दा रहेगी! ओंकार शरद ने लिखा है, “बेनीपुरी को भारत की मिट्टी से प्यार था। उनकी रचना ‘माटी की मूर्तें’ में भारत का ग्रामीण समाज अमरत्व पा गया है और उनकी नाट्य कृतियों ‘अम्बपाली’, ‘नेत्रदान’, ‘विजेता’ में अशोक और बुद्ध का युग फिर जी उठा है।”

प्रसाद युगीन नाटकों में रामनरेश त्रिपाठी के ‘जयंत’ (1934 ई.) हरिऔध के ‘रुक्मिणी परिणय’ (1937 ई.), माखनलाल चतुर्वेदी के ‘कृष्णार्जुन युद्ध’ (1918 ई.), मैथिलीशरण गुप्त के ‘अनघ’ (1925 ई.), लक्ष्मीनारायण मिश्र के ‘अशोक’ (1927 ई.), ‘सिंदूर की होली’ (1934 ई.), सुमित्रानन्दन पन्त के ‘रजत शिखर’ (1952 ई.) मुख्य हैं। उदय शंकर भट्ट ने ‘दस हज़ार’ नामक एकांकी नाटक लिखा। जगन्नाथ प्रसाद ‘मिलिंद’ ने महाराणा प्रताप पर ‘प्रताप प्रतिज्ञा’ नाटक लिखा। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने ‘प्रताप’ नाटक के सम्बन्ध में लिखा है, “स्व. राधाकृष्णजी के ‘प्रताप’ नाटक का आरम्भ मानसिंह के अपमान से होता है, जो नाट्य कला की दृष्टि से बहुत ही उपयुक्त है।” आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने यह भी लिखा है कि सुमित्रानन्दन पन्त ने ‘ज्योत्स्ना’ नाम से एक रूपक भी लिखा है। प्रसादोत्तर नाटकों में श्रीकृष्ण मिश्र का ‘देवकन्या’ (1934 ई.), विराज का ‘विक्रमादित्य’ (1947 ई.), सत्यजीवन वर्मा का ‘पति निर्वाचन’ (1947 ई.) आनन्दीप्रसाद श्रीवास्तव का ‘झाँकी’ (1942 ई.) तथा गोविन्द वल्लभ पन्त का ‘ययाति’ (1947 ई.) नाटक महत्वपूर्ण हैं।

स्वातन्त्र्योत्तर-युग के नाटककारों में जगदीशचन्द्र माथुर, धर्मवीर भारती, मोहन राकेश, मन्मू भंडारी, सुरेंद्र वर्मा, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, मुद्राराक्षस, मणि मधुकर, भीष्म साहनी, शरद जोशी तथा विष्णु प्रभाकर मुख्य हैं। सन् 1950 ई. के बाद हिन्दी नाटकों में जो नई प्रयोगधर्मिता देखने को मिलती है वह अकारण नहीं है। इस साल तक आते-आते हिन्दी समाज पूरे विश्व से कहीं-न-कहीं तेज़ी के साथ जुड़ने लगा था और हिन्दी नाटक को इसी काल में अपनी अपूर्णता का बोध भी हुआ था। प्रयोग और अपूर्णता के बोध से निकलने के लिए जगदीशचन्द्र माथुर ने कई सफल प्रयास किए जिसकी परिणति के रूप में उनकी नाट्य कृतियाँ ‘कोणार्क’, (1951 ई.), ‘शारदीय’ (1959 ई.) तथा ‘पहला राजा’ (1969 ई.) सामने आईं। जगदीशचन्द्र माथुर ने 13वीं शताब्दी के गंग राजाओं द्वारा निर्मित ‘कोणार्क’ मन्दिर के निर्माण और विध्वंस के द्वारा कला के उत्कर्ष कलाकार के जीवन और उसकी दृष्टि का बखूबी चित्रण किया है। जगदीशचन्द्र माथुर की यह कृति बहुत ही खूबसूरत है। रंगमंच की दृष्टि से बहुत ही उपयुक्त और संवाद की दृष्टि से भी बहुत ही आकर्षक है। सूर्य की आभाओं की तरह यह नाट्य-कृति मन को मुदित करने में सक्षम है। राजा पृथु के माध्यम से आधुनिक युगबोध और मनःस्थिति को निरूपित करने में ‘पहला

राजा' महत्वपूर्ण नाटकों में से एक है। 'अंधा युग' (1954 ई.) हिन्दी की कालजयी कृतियों में शुमार है। कारण कि युग के अंधकार को 'महाभारत' के 18वें दिन के युद्ध की एक संध्या से लेकर प्रभास-तीर्थ में कृष्ण की मृत्यु के क्षण तक के घटना-काल पर आधारित यह नाटक मन के भीतर के अंधकार को बाहर के अंधकार से कहीं ज्यादा घनीभूत तथा विषादपूर्ण बना देता है। यह नाटक आज की हकीकत भी है। पाँच अंकों में विभाजित यह दृश्य काव्य लोक-नाट्य-परम्परा के कई तत्वों को ग्रहण कर बहुत ही मुकम्मल एवं क्लासिक बन गया है। इसे धर्मवीर भारती की उत्कृष्ट रचनाओं में परिगणित किया जाता है। युद्ध की विभीषिका या युद्ध किसी भी स्थिति में मानव-जीवन के लिए उचित नहीं है। यह नाट्य-कृति इसका संदेश देती है और यह भी कि कोई सैनिक नहीं चाहता है कि वह युद्ध में खपाया जाए क्योंकि उसके भी अपने परिवार व बाल-बच्चे होते हैं। युद्ध तो तानाशाहों और अहमी राजाओं की देन है, जिसमें आमजन मारे जाते हैं जबकि उनकी कुछ गलती नहीं होती। इस नाटक के पाँचवें अंक में भारतीजी का यह लिखना कि- 'सिन्हासन प्राप्त हुआ है जो/ यह माना कि उसके पीछे अंधेपन की/ परम्परा है;/ जो हैं प्रजाएँ/ यह माना कि वे पिछले शासक के/ विकृत साँचे में ढली हुई।' गीति नाट्य की यह पंक्तियाँ वह सब कुछ कह जाती हैं जो सिन्हासन के पीछे की सच है। यहाँ धृतराष्ट्र अंधे युग के प्रतीक हैं।

मोहन राकेश का नाम स्वातन्त्र्योत्तर-युग के प्रमुख रचनाकारों में बड़े आदर के साथ लिया जाता है। वे कम नाटक लिखकर भी हिन्दी नाटक के इतिहास में अमर हैं। उनके नाटकों में 'आषाढ़ का एक दिन' (1958 ई.), 'लहरों के राजहंस' (1963 ई.) 'आधे-अधूरे' (1969 ई.) तथा 'पैर तले की ज़मीन' (1957 ई.) प्रमुख हैं। 'आषाढ़ का एक दिन' भाषा की उत्कृष्ट बानगी प्रस्तुत करता है। कथावस्तु, कथन, देशकाल, शैली, रस, अभिनेता और उद्देश्य की दृष्टि से भी यह महत्वपूर्ण नाट्य-कृतियों में से एक है। ऐतिहासिक घटनाक्रम पर आधारित यह नाटक कालिदास और उनके प्रेम की कथा को प्रस्तुत करने के साथ इस बात का गवाह है कि कैसे कोई सहृदय कवि राज्य आश्रय प्राप्त कर अपनी ज़मीन को भूल जाता है कि उसे बनाने और निर्मित करने में उसका हाथ है, आमजन का भी हाथ है। यह सच है कि वह कवि है, पर उसकी कविता राजाओं की दासी बन जाए, यह शोभा नहीं देता। इस नाटक की नायिका मन-ही-मन सोच रही है, "उज्जयिनी की ओर जाने वाले व्यवसायियों से कितना-कितना अनुरोध करके मैंने तुम्हारी रचनाएँ मँगवाई हैं। ...सोचती थी मैं तुम्हें 'मेघदूत' की पंक्तियाँ गा-गाकर सुनाऊँगी। किसी पर्वत-शिखर से घंटा ध्वनियाँ गूँज उठेंगी और मैं यह भेंट तुम्हारे हाथों में रख दूँगी... (मोढ़े पर रखे हुए ग्रन्थ को उठा लेती है) कहूँगी कि देखो, यह तुम्हारी नई रचना के लिए है। ये कोरे पृष्ठ मैंने अपने हाथों से बनाकर सीए हैं। इन पर तुम जब जो भी लिखोगे, उसमें मुझे अनुभव होगा कि मैं भी कहीं हूँ, मेरा भी कुछ है।" मल्लिका भी कोरे कागज़ की तरह है जिस पर कालिदास के प्रेम के अक्षरों (हृदय) में स्थाई जगह बना ली है। रचना के तौर पर मल्लिका की गोद में एक नन्हा शिशु है जो उन दोनों का भविष्य है। बच्चन सिंह ने इस नाटक के सम्बन्ध में लिखा है, "यह नाटक कालिदास के काल्पनिक जीवन-वृत्त पर आधारित है।

इसके माध्यम से राकेश ने साहित्यकार की उन भूमियों की तलाश की है जो उसकी सर्जना की प्रेरक बिन्दु हैं। मूलतः यह व्यक्ति स्वातन्त्र्य से ही जुड़ा हुआ है।" यह सच है कि मोहन राकेश का यह नाटक पहले प्रयास का प्रतिफल था, फिर भी बच्चनजी ने मल्लिका पर जो 'रोमांटिकता' का आरोप लगाया है वह उतना सही नहीं है। नाटक की यह नायिका मनोभूमि के आधार पर गहरी भी है लहरों के राजहंस' की भूमिका के तौर पर सुरेश अवस्थी ने लिखा है, 'लहरों के राजहंस' में एक ऐसे कथानक का नाटकीय पुनराख्यान है जिसमें सांसारिक सुखों और आध्यात्मिक शान्ति के पारस्परिक विरोध तथा उनके बीच खड़े हुए व्यक्ति के द्वारा निर्णय लेने का अनिवार्य द्वन्द्व निहित है।"

इस नाटक में बुद्ध के दर्शन, राज्य-धर्म और प्रेम के बीच इतना अधिक द्वन्द्व है कि उस काल की पूरी स्थिति का कहीं-न-कहीं आँकलन हो जाता है। 'आधे-अधूरे' नाटक मोहन राकेश का तीसरा महत्वपूर्ण नाटक है जो आज भी ज़िन्दगी की गहन पड़ताल करता है तथा पारिवारिक रिश्ते की समीक्षा करते हुए मूल्यहीनता को रेखांकित करता है। इस नाटक के पात्र— काले सूट वाला आदमी, स्त्री, पुरुष, बड़ी लड़की, छोटी लड़की, लड़का और शेष तीन पुरुष मिलकर इस आधुनिक काल के वितान के अंतर्सम्बन्धों से हमें परिचित कराते हैं। यह नाटक मध्यवर्गीय परिवार की त्रासदी को उभारता है। कई बार यह नाटक जीवन के खालीपन से हमें रू-ब-रू कराता है। मन्नू भंडारी का नाटक 'बिना दीवारों के घर' (1965 ई.) स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों पर आधारित परिवार नामक संस्था के टूटने की ओर संकेत करता है। 1970 ई. के आस-पास सुरेंद्र वर्मा ने 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक' (1975 ई.) तथा 'आठवाँ सर्ग' (1976 ई.) जैसे नाटक लिखे। इनके अधिकतर नाटक ऐतिहासिक कथ्यों पर आधारित हैं। चतुर्भुज एम.ए. का ('भगवान बुद्ध' नामक नाटक जो पहली दफ़ा 1960 ई. में दिल्ली पुस्तक सदन पटना से प्रकाशित हुआ), भगवान बुद्ध के जीवन से जुड़ी हुई कई घटनाओं को मार्मिक नाटक के रूप में प्रस्तुत करता है। इसका तृतीय संस्करण 1974 ई. में प्रकाशित हुआ। यह नाटक कपिलवस्तु के राजप्रासाद से शुरू होता है जहाँ शुद्धोदन चिन्तित हैं। उन्हें राजकुमार सिद्धार्थ की गतिविधि और अति-संवेदनशीलता चिन्ता में डुबो रही है। शाक्य कुल के प्रदीप सिद्धार्थ शायद वह नहीं होने वाले हैं जैसा कि महाराज उनके सम्बन्ध में सोच रहे हैं या सपना देख रहे हैं। उन्हें कपिलवस्तु का भावी भविष्य निराशापूर्ण दिखाई दे रहा है क्योंकि राज्य सम्भालने के लिए क्षत्रियोचित लक्षण से सिद्धार्थ अलग हैं, भिन्न हैं। मुद्राराक्षस ने 'तिलचट्टा' तथा 'योसं फ़ेथफुली' (1973 ई.) तथा 'तेंदुआ' (1975 ई.) नाटक लिखे जो कि इस युग के महत्वपूर्ण नाटकों में से हैं। इस युग के नाटकों में सर्वेश्वर दयाल सक्सेना का नाटक 'बकरी' (1974 ई.) खास रूप से चर्चित रहा। 'बकरी' का छात्र संस्करण 2003 में छप कर आया था। भीष्म साहनी के नाटक 'हानूश' (1977 ई.), 'कबीरा खड़ा बाज़ार में' (1981 ई.), 'मुआवज़े' (1993 ई.) तथा 'रंग दे बसंती चोला' (1996 ई.) अपने कथानक के लिए लोगों में काफ़ी चर्चित नाटक रहे। 'हानूश' एक ताला बनाने वाला चेकोस्लोवाकियाई मिस्त्री है। 'कबीरा खड़ा बाज़ार में' कबीर के जीवन पर आधारित मध्यकालीन भारत के अनाचार व तानाशाही पर

केन्द्रित नाटक है। भीष्म साहनी एक मँजे हुए उपन्यासकार के साथ एक सफल नाटककार भी रहे हैं। भीष्म साहनी (1915-2003) के समकालीनों में विष्णु प्रभाकर (1912-2009) का नाम भी नाटक के क्षेत्र में काफ़ी प्रसिद्ध है। उन्होंने 'टूटते परिवेश' (1974 ई.), 'टगर' (1974 ई.), 'सत्ता के आर-पार' (1981 ई.), 'कुहासा और किरण' (1983 ई.) तथा 'नव प्रभात' जैसे नाटक लिखे।

'नवप्रभात' नाटक का सस्ता साहित्य मंडल ने 15वीं बार प्रकाशन 1993 ई. किया। युद्ध से त्रस्त बीसवीं सदी की मानवता को समर्पित यह नाटक इतिहास प्रसिद्ध सम्राट अशोक के इर्द-गिर्द बुना गया है जिसमें सम्राट अशोक मौर्य कलिंग विजय के बाद हिंसा से विमुख होकर शान्ति के दूत बन गए हैं और यह सब इसलिए हुआ है क्योंकि किसी ने उनके हृदय को झकझोरा है और वह कोई और नहीं बल्कि कलिंग की राजकुमारी है। राजेंद्र प्रसाद सिंह ने दो नाटक 'चिंगारी' (1980 ई.) तथा 'किस्मत का खेल' (1981 ई.) लिखे। 'चिंगारी' नाटक जनवादी चेतना से सम्पन्न है। शंकर शेष का 'एक और द्रोणाचार्य' (1978 ई.), 'पोस्टर' (1978 ई.), 'बिन बाती का दीया' (1985 ई.), गिरिराज किशोर का 'नरमेध' (1977 ई.), राजेश जोशी का 'जादू जंगल', प्रभाकर श्रोत्रिय का 'इला' (1989 ई.) तथा दूधनाथ सिंह का 'यमगाथा' (1988 ई.), लल्ला प्रसाद सिंह का 'हमें भी जीने दो' (1981 ई.) नाटकों में खास रहे। नरेन्द्र मोहन के 'कहे कबीर सुनो भई साधो' (1991 ई.) तथा 'अभंग गाथा' (2000 ई.) जैसे नाटकों ने हिन्दी नाटक के इतिहास को समृद्ध किया। इस बीच हबीब तनवीर का नाटक 'आगरा बाज़ार' (1979 ई.) भी आया जो उर्दू के शायर 'नज़ीर' की शख्सियत और जिन्दगी पर आधारित है। इस शायर का जन्म सन् 1735 ई. में माना जाता है, जिसकी शायरी व नज़्में आमजन की जुबान पर जिन्दा तो रहे किन्तु वह किताबी चर्चाओं में उपेक्षित रहा। हबीब तनवीर का दूसरा महत्वपूर्ण नाटक 'चरणदास चोर' (2004 ई.) है। इस नाटक के माध्यम से चोर, साधु, हवलदार, मुनीम, राजा सबकी खबर ली गई है। 'एक औरत हिपेशिया भी थी' (2004 ई.) में हबीब तनवीर ने रोमन सल्तनत के प्रदेश अस्कंदरिया के कुछ वाक्यात द्वारा यह बताने का प्रयास किया है कि मन्दिर या मस्जिद को तोड़ देना किसी समस्या का हल नहीं है।

हबीब तनवीर ने विलियम शेक्सपियर के नाटक 'मिडसमर नाइट्स ड्रीम' का हिन्दी नाट्य रूपांतर व निर्देशन 'कामदेव का अपना, वसंत ऋतु का सपना' नाम से किया है। यह नाटक 'वन के राजा' के माध्यम से सत्ता की पोल खोलता है, जिससे आमजन परिचित नहीं हैं। दया प्रकाश सिन्हा ने 'सम्राट अशोक' (2015 ई.) नाटक लिखा है। इस नाटक में अशोक के चरित्र के साथ उनके द्वारा जान-बूझकर खिलवाड़ किया गया है।

दशरथ ओझा हिन्दी नाटक के विशेषज्ञ भी हैं। उन्होंने 'हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास' में समस्या-नाटकों से लेकर, एब्सर्ड नाटक तथा गीति नाटक पर काफ़ी विस्तार से लिखा है। उन्होंने पारसी

थिएटर से लेकर 'भारतेंदु नाटक मंडली' (1906 ई.) तक के इतिहास पर बड़े ही रोचक तरीके से प्रकाश डाला है। आज 'रेडियो नाटक' की चर्चा खूब होती है। इनके भेदों में- रेडियो रूपक, फ़ीचर, ध्वनि नाट्य, स्वोक्ति, फ़ैटेसी या भावनाट्य, ध्वनिगीति रूपक, रिपोतार्ज, जन नाटक तथा व्यंग्य हैं। 'लोहा सिंह' (1954 ई.) एक चर्चित रेडियो नाटक है। इसके रचनाकार रामेश्वर सिंह कश्यप अपनी बुलन्द आवाज़ के लिए सदा याद किए जाते हैं। ऑल इंडिया रेडियो, पटना से प्रसारित, थिएटर शैली का यह नाटक अपने व्यंग्य और मसखरेपन से श्रोताओं को लोटपोट करने में समर्थ है। असगर वजाहत ने 'महाबली' (2019 ई.) के माध्यम से राजसत्ता और कलाकार की स्वाधीनता को रेखांकित करते हुए अकबर और तुलसीदास के बीच के द्वन्द्व को बहुत ही बारीकी से उठाते हुए, अकबर के अनुरोध को तुलसीदास द्वारा टुकराए जाते हुए दिखाया है। यह कितना सच है, यह अनुसंधान का विषय है। यह सच है कि तुलसीदास की मित्रता टोडरमल से थी। इससे बहुत हद तक कथ्य की सत्यता की ओर जाया जा सकता है।

हिन्दी नाटकों के इतिहास में ललन प्रसाद सिंह को छोड़ देना किसी भूल से कम नहीं है। उनका नाटक 'हमें भी जीने दो!' (1981 ई.) अपने समय के महत्वपूर्ण नाटकों में से एक है जो कि लोकप्रियता की मंज़िल पार कर गया था। इसका पता हमें इस बात से चलता है कि बहुत ही कम दिनों में इसकी 500 प्रतियाँ हाथों-हाथ बिक गई थीं और शाहाबाद के गाँव-गाँव में यह नाटक खेला गया। यह नाटक बनिहार और ज़मींदारों के बीच संघर्ष पर आधारित जनचेतना से अनुप्राणित व प्रेम-परक है। इस नाटक में दो वर्गों के संघर्ष बड़े तीखे रूप में उभरकर सामने आए हैं। इस नाटक के कुछ अंश पर रोहतास प्रशासन ने प्रतिबन्ध लगा दिया था किन्तु बाद में इसे हटा दिया गया। ललन प्रसाद सिंह का दूसरा नाटक 'छीन लो रोटी अथवा जनलीला' भी काफ़ी महत्वपूर्ण है जो कि बहरस शैली में लिखा गया है। इनका तीसरा नाटक स्टूडेंट थिएटर द्वारा सेनुवार गाँव में पहली दफ़ा खेला गया, जिसमें बेरोज़गार नौजवान की कहानी नाटक की जान बन गई है। यह नाटक भी जनचेतना से लबालब है।

निष्कर्षतः कह सकते हैं कि हिन्दी नाटक का ऐतिहासिक विकासक्रम पर गौर करने पर उसके विविध आयामी रंगों से परिचित होते हैं और यह कि उसका इतिहास एक-रेखीय नहीं है विभिन्न पड़ावों, मोड़ों और संघर्षों से गुज़रते हुए हिन्दी नाटक ने अपना सफ़र तय किया है जिससे पता चलता है कि उसमें रोचकता भी है और गम्भीरता भी। उसने आमजन की जनचेतना को विकसित करने में काफ़ी योग दिया है तथा उनके जीवन के साथ तादात्म्य स्थापित करते हुए, उसको सुन्दर बनाने का हरसम्भव प्रयत्न भी किया है। हिन्दी नाटकों पर बुद्ध और सम्राट अशोक का प्रभाव भी काफ़ी गहरा रहा है। वैसे तो हिन्दी नाटक विविध विषय-वस्तु को अपने में सामाहित करते रहे हैं किन्तु उनकी चेतना निष्कर्षतः ऊर्ध्वमुखी है जोकि उसके विकासात्मक परिप्रेक्ष्य का प्रमाण है। □

हमारे विक्रय केन्द्र : नई दिल्ली : सूचना भवन, सी.जी.ओ. कॉम्प्लेक्स, लोदी रोड, दूरभाष : 011-24367260, लखनऊ : हॉल नं.1, दूसरी मंजिल, केन्द्रीय भवन, अलीगंज, दूरभाष : 0522-2225455, कोलकाता : 8, एस्प्लेनेड ईस्ट, दूरभाष : 33-22488030, पटना : बिहार : रा. सह. बैंक बिल्डिंग, अशोक राजपथ, दूरभाष : 0612-2683407, मुम्बई : 701 बी-विंग, सातवीं मंजिल, केन्द्रीय सदन बेलापुर, नवी मुम्बई, दूरभाष : 9522-27570686, बंगलुरु : एफ विंग, केन्द्रीय सदन, कोरामंगला दूरभाष : 080-25537244, अहमदाबाद : 4-सी, नेपच्यून टॉवर (एच.पी. पेट्रोल पम्प के निकट), नेहरू ब्रिज कॉर्नर, आश्रम रोड, दूरभाष : 079-26588669, हैदराबाद : कमरा नं. 204, द्वितीय तल, सी.जी.ओ. टॉवर, कावादिगुडा-500080, चेन्नई : राजाजी भवन, एनी बेसेन्ट नगर, दूरभाष : 044-24917673, तिरुवनन्तपुरम : गवर्मेन्ट प्रेस के निकट, दूरभाष : 041-2330650



रामवृक्ष बेनीपुरी ऐतिहासिक नाटकों के आधुनिक सन्दर्भ

कुलभूषण मौर्य

रामवृक्ष बेनीपुरी हिन्दी के प्रसादोत्तर युग के नाटककारों में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। ऐतिहासिक-पौराणिक क्षेत्र रामवृक्ष बेनीपुरी के प्रिय विषय हैं। उनके नाटकों, निबन्धों और कविताओं में ऐतिहासिक-पौराणिक सन्दर्भों को एक टूल (उपकरण) के रूप में प्रयोग किया गया है। वे वर्तमान समस्याओं को ऐतिहासिक-पौराणिक पृष्ठभूमि में देखते और हल निकालते हैं। नाटकों के उनके पात्र तो ऐतिहासिक हैं, किन्तु वे पारम्परिक नहीं हैं। उसे उन्होंने नए रूप में सृजित किया है। भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम के दौर में यह स्वाभाविक भी है। प्रसिद्ध नाटकों के रचयिता होने के बावजूद उन्हें आलोचना पुस्तकों में एक नाटककार के रूप में वह ख्याति नहीं मिली, जो निबन्धकार के रूप में मिली। हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रन्थों में तो नाटककार के रूप उनका जिक्र ही नहीं है। उनके नाटक प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों से भिन्न हैं। ऐतिहासिक होते हुए भी वे सामयिकता को भासित करते हैं। भाषा से लेकर घटनाओं के दृश्यांकन तक में कहीं भी यह नहीं लगता है कि उन्होंने अपने नाटकों में ऐतिहासिकता को बनाए रखने की कोशिश की है। रामवृक्ष बेनीपुरी के कुल तीन नाटक हैं-‘अम्बपाली’, ‘तथागत’ और ‘विजेता’। इसके अलावा उन्होंने चार एकांकी-‘संघमित्रा’, ‘सिंहल-विजय’, ‘नेत्रदान’ और ‘नया समाज’ तथा चार रेडियो रूपक-‘अमर ज्योति’, ‘शकुन्तला’, ‘रामराज्य’ और ‘गाँव के देवता’ एवं एक स्वोक्ति रूपक ‘सीता की माँ’ लिखा।

रामवृक्ष बेनीपुरी के नाटक ‘अम्बपाली’ और ‘तथागत’ बौद्धकालीन ऐतिहासिक सन्दर्भ लिए और ‘विजेता’ चन्द्रगुप्त मौर्य के जीवन पर आधारित है। उन्होंने अपने उद्देश्य के अनुरूप ऐतिहासिक पात्रों के चरित्र में परिवर्तन कर नया रूप दिया है। बेनीपुरी ग्रन्थावली के सम्पादक सुरेश शर्मा ने जयशंकर प्रसाद को ‘ऐतिहासिक चरित्रों और परिस्थितियों की यथातथ्यता का आग्रही’ बताते हुए बेनीपुरी द्वारा ऐतिहासिक चरित्रों को अपने अनुकूल बनाने की बात की। रामवृक्ष बेनीपुरी अपने नाटकों में ऐतिहासिक पात्रों को आधार बनाकर वर्तमान विसंगतियों से मुठभेड़ करते दिखाई देते हैं। उन्होंने ऐतिहासिक चरित्रों के व्यक्तित्व को तो

बदला ही है, भाषा और संवाद भी ऐतिहासिक नाटकों जैसे नहीं हैं। नाटक लिखते हुए उनके सामने भविष्य का लोकतान्त्रिक भारत का स्वप्न है। उन्होंने जिस दासता का अनुभव किया और लोकतन्त्र के लिए जिन मूल्यों की आवश्यकता महसूस की, उसे अपने नाटकों में परोसा है।

रामवृक्ष बेनीपुरी ने अपना पहला नाटक ‘अम्बपाली’ 1940 ई. में हजारीबाग सेन्ट्रल जेल में लिखा किन्तु पुस्तक रूप में यह 1947 ई. में प्रकाशित हुआ। अम्बपाली बौद्धकालीन वैशाली की एक प्रसिद्ध गणिका थी। अब तक उसके जीवन को आधार बनाकर अनेक उपन्यास, कहानियाँ और कविताएँ लिखी गई हैं जिसमें आचार्य चतुरसेन शास्त्री का उपन्यास ‘वैशाली की नगरवधू’ प्रमुख है।

रामवृक्ष बेनीपुरी जिस समय ‘अम्बपाली’ की रचना कर रहे थे, देश स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष कर रहा था, जिसमें बेनीपुरी स्वयं जेल में थे। उन्होंने नाटक लिखते हुए भारत की तत्कालीन स्थिति का ध्यान रखा है। वे भारत के स्वतन्त्रता संग्राम में कलाकारों, साहित्यकारों और युवाओं की महती भूमिका मानते हैं। वैशाली पर आक्रमण के समय अम्बपाली का योद्धा का रूप सामने आता है। इस रूप में वह युवाओं में प्रेरणा का संचार करने वाली है। नाटक में कलाकार की ज़िम्मेदारी से भी उन्होंने परिचित कराया है। वैशाली के महामात्य कला को जागरण का शंखनाद बताते हुए अम्बपाली से कहते हैं कि नीति से कला का असर ज्यादा होता है। और, वह कला व्यर्थ है, जो मातृभूमि के, संकट-काल में काम न आए। रामवृक्ष बेनीपुरी ने देश के स्वतन्त्र बने रहने के लिए पारस्परिक एकता, प्रेम, आदर्श पर उत्सर्ग होने की भावना पर तो बल दिया ही है, साहित्य और कला की महती भूमिका की ओर भी संकेत किया है। उन्होंने मनोरंजन को जीवन के लिए अनिवार्य बताते हुए उसे सामयिकता से जोड़ने की भी बात की। यह रामवृक्ष बेनीपुरी द्वारा कला के लिए बनाए गए प्रतिमान हैं।

‘अम्बपाली’ नाटक में रामवृक्ष बेनीपुरी ने परतन्त्र भारत की तस्वीर दिखाई है। वैशाली पर अजातशत्रु के आक्रमण के बाद वैशाली

की जनता हताश और निराश दिखाई देती है। उसमें युद्ध को लेकर कोई उत्साह नहीं है, उल्टे वह समझौता करने के पक्ष में है। यह परतन्त्र भारत की हताश निराश जनता है जिसके सारे औजार पुराने पड़ चुके हैं। उसे द्वितीय विश्व युद्ध में जबरदस्ती घसीटा जा चुका है। वह किंकर्तव्यविमूढ़ है कि क्या करे ? क्या न करे ? ऐसे में साहित्यकार और कलाकार का यह दायित्व बनता है कि वह जनता को रास्ता दिखाए, उसका उत्साहवर्धन करे। अम्बपाली का उत्साह और वीरता का संचार करने के लिए स्वयं योद्धा के वेश में उतरना कलाकार और साहित्यकार के कर्मक्षेत्र में प्रवेश का प्रतीक है। रामवृक्ष बेनीपुरी जैसे तमाम ऐसे साहित्यकार थे, जो न केवल लेखनी के द्वारा, अपितु सीधे कर्मक्षेत्र में प्रवृत्त थे। उन्होंने निराशा के गाढ़े समय में जनता को संघर्ष पथ पर बढ़ने के लिए प्रोत्साहित किया।

देश की स्वतन्त्रता के बाद शासन की रूपरेखा लोकतन्त्र की होगी या कुछ और ? इस पर तो बहस हो ही रही थी, रामवृक्ष बेनीपुरी एक कदम आगे बढ़कर लोकतन्त्र को स्थायी बनाने के उपायों को लेकर भी सजग दिखाई देते हैं। मगध के महामंत्री वस्सकार के सम्मुख महात्मा बुद्ध अपने शिष्य आनन्द से वृज्जि संघ के सम्बन्ध में जो प्रश्न करते हैं, उसमें लोकतन्त्र को अक्षुण्ण रखने के मूल्य छिपे हैं। जनतान्त्रिक मूल्यों की रक्षा के लिए जनसमर्थन का महत्व, कानून बनाना और उसका पालन करना, राष्ट्रीय कर्तव्यों की पूर्ति, वृद्धों का सम्मान और उनकी सलाह को महत्व, नारी सम्मान, प्रार्थना स्थलों की रक्षा, तपस्वियों का आदर-सत्कार आदि ऐसे मूल्य हैं, जो लोकतन्त्र को अक्षुण्ण रखने में सहायक हैं। इनका पालन न करने पर लोकतन्त्र खतरे में पड़ता है। वृज्जिसंघ इसका उदाहरण है। इस तरह का वार्तालाप रामवृक्ष बेनीपुरी के 'तथागत' नाटक में भी मिलता है। उन्होंने गणतन्त्र की विशेषताओं के साथ ही उसकी दुर्बलता की ओर भी संकेत किया है। अम्बपाली से बातचीत में महामात्य चेतक बताते हैं कि कई बार गणतन्त्र में बहुमत के अभाव में सही निर्णय नहीं हो पाते हैं। रामवृक्ष बेनीपुरी के सामने गणराज्यों का उदाहरण था ही, उसे उन्होंने नए स्वरूप में प्रस्तुत किया है।

भारतीय परम्परा में बौद्ध धर्म का उदय अराजकता के विरुद्ध हुआ था। वर्ण-जाति, छुआछूत का भेदभाव था ही, कर्मकाण्डों का बोलबाला भी था। ऐसे में बौद्ध धर्म समता का सन्देश लेकर आया और सबको प्रभावित किया। उसके द्वार सभी के लिए खुले थे। अम्बपाली का भिक्षुणी बनना इस बात की पुष्टि करता है। रामवृक्ष बेनीपुरी ने इस स्वाभाविक रूप-परिवर्तन के माध्यम से अम्बपाली को नए रूप में प्रस्तुत किया है, जिसे वे नाटक की भूमिका में 'मेरी अम्बपाली' के नाम से सम्बोधित करते हैं। यह नए भारत की नई नारी है। रामवृक्ष बेनीपुरी ने अम्बपाली के माध्यम से भारतीय नारी को विराट स्वरूप प्रदान किया है। उसका भिक्षुणी बनना भी निष्प्रयोज्य नहीं, बल्कि समाज के कल्याण के लिए है। रामवृक्ष बेनीपुरी स्त्री को भोगे जाने वाली 'वस्तु' या 'सम्पत्ति' के खाँचे से निकालकर उसकी व्यापक सामाजिक-राजनीतिक भूमिका स्थापित करते हैं। 'अम्बपाली' नाटक के पात्र भले ही ऐतिहासिक हों, रामवृक्ष बेनीपुरी ने उन्हें आधुनिक रूप प्रदान किया है।

रामवृक्ष बेनीपुरी का दूसरा नाटक 'तथागत' महात्मा बुद्ध के जीवन पर आधारित है। इसमें सिद्धार्थ के जन्म से लेकर तथागत बनने और परिनिर्वाण तक की कथा बड़े ही रोचक ढंग से चित्रित है। बुद्ध

का जीवन और दर्शन मानवता को नई दिशा दिखाने वाला है। रामवृक्ष बेनीपुरी ने बौद्ध दर्शन को बड़े व्यावहारिक ढंग से इस नाटक में स्थापित किया है। बुढ़ापा, रोग और मृत्यु के माध्यम से जगत के दुखों से उनका साक्षात्कार होता है और दुखों से मुक्ति के लिए वह ज्ञान की खोज में घर छोड़ देते हैं। घर से निकलने के बाद उन्हें जो सबसे पहला भोजन बासी खिचड़ी मिलता है, जो उनसे खाया नहीं जाता। यहाँ से उन्हें इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने की प्रेरणा मिलती है। ज्ञान प्राप्ति के बाद का भोजन है बोधिवृक्ष के नीचे सुजाता द्वारा प्राप्त दिव्य खीर। लम्बी साधना के बाद उन्हें जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह है मध्यम मार्ग का।

रामवृक्ष बेनीपुरी बौद्ध दर्शन को स्वयं बुद्ध के मुख से कहलवाते हैं- दुख सत्य है, दुख का कारण है-तृष्णा। तृष्णा से विराग ही साध्य है और यह अष्टांगिक मार्ग से प्राप्त होता है। ये अष्टांगिक मार्ग हैं- सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाणी, सम्यक् कर्म, सम्यक् जीविका, सम्यक् प्रयत्न, सम्यक् जागरूकता और सम्यक् समाधि। बुद्ध अपने धर्म का प्रचार करते हैं। सर्वप्रथम पाँच लोग उनके उपदेश ग्रहण करते हैं। बाद में इनकी संख्या बढ़ती जाती है। रामवृक्ष बेनीपुरी इस नाटक में बौद्ध धर्म की सहजता की बात करते हैं। वे वेशभूषा से ज्यादा समान भाव, शम और विनय की बात करते हैं। बुद्ध ने अपने शिष्यों को गतिशील होने का उपदेश देते हुए भिक्षुओं को एक साथ न जाने की, एक मार्ग से न जाने की, एक घर से भोजन न करने का, एक स्थान पर एक रात से अधिक न बिताने का उपदेश देते हैं, तो विचारों के तेज़ी से प्रसार का उपाय भी प्रशस्त करते हैं। आधुनिक सन्दर्भ में देखें तो यह आंदोलन के प्रसार में भी सहायक हो सकता है। बुद्ध का सबसे बड़ा सिद्धान्त है अहिंसा का। नाटक में उन्हें बिम्बिसार के राज्य में यज्ञ में पशु बलि प्रथा को बन्द कराते दिखाया गया है।

रामवृक्ष बेनीपुरी ने 'तथागत' नाटक में बुद्ध की सहजता को प्रतिपादित किया है। घर से वैराग्य ले चुके बुद्ध पत्नी यशोधरा का मान रखने के लिए उसके पास आते हैं, ताकि यशोधरा भी इस बन्धन से मुक्त हो सके। यहाँ रामवृक्ष बेनीपुरी स्त्रियों के स्वाभाविक स्वभाव को पुष्ट करने से अपने आप को नहीं रोक पाये हैं। यह नारी के प्रति सम्मान का भी प्रतीक है। नाटक में रामवृक्ष बेनीपुरी ने समता का प्रतिपादन करने के लिए शाक्यकुल के कुमारों के भिक्षु बनने से पहले उपाली नाई को भिक्षु बनते दिखाया है, ताकि वह वरिष्ठ भिक्षु बन सके और शाक्य कुल के कुमार उसे प्रणाम करें। बौद्ध काल में और आधुनिक काल में भी समाज में वर्ण-व्यवस्था और जाति-व्यवस्था चरम पर थी। इससे मुक्ति तभी सम्भव थी, जब श्रेष्ठता का आधार जन्म न होकर ज्ञान और कर्म हो। रामवृक्ष बेनीपुरी उपरोक्त घटना के माध्यम से इसी अवधारणा को प्रतिस्थापित करते हैं। इसी तरह मृत्यु पर विजय को भी वे बड़ी सहजता से प्रमाणित करते हैं। दुख के आवेग में मनुष्य प्रियजन की मृत्यु के शाश्वत सत्य को भी स्वीकार नहीं कर पाता। नाटक की एक पात्र गौतमी बुद्ध के पास अपने मृत बेटे को जीवित करने के लिए जाती है। गौतमी को बुद्ध मृत्यु के सत्य को बड़ी सहजता से स्वीकार करवाते हैं। वे गौतमी से कहते हैं कि उसका पुत्र जीवित हो जायेगा, यदि वह ऐसे घर से पीली सरसो ले आये जिस घर में किसी की मृत्यु न हुई हो। पीली सरसो की तलाश में जब गौतमी घूमती है तो उसे कोई ऐसा घर नहीं मिलता, जिसमें किसी की मृत्यु न हुई हो। इस तरह वह मृत्यु के सत्य को बड़ी आसानी से स्वीकार कर लेती है। इसी तरह वे माणविका के माध्यम से

सत्य की विजय को भी प्रमाणित करते हैं। नाटक के अंत में अम्बपाली को प्रव्रज्या ग्रहण करते और बुद्ध के परिनिर्वाण को दिखाया गया है।

‘तथागत’ नाटक में वृज्जियों के पराभव से बचे रहने के जिन सात कारणों की चर्चा बुद्ध ने की है, वे राष्ट्र की उन्नति में भी सहायक हैं- अपने शासन के प्रति भक्ति, निर्णयों के प्रति कर्तृत्व, अपने विधान के प्रति आदर, अपने बड़े-बूढ़ों के प्रति सम्मान, अपनी नारी जाति के प्रति श्रद्धा, अपने सांस्कृतिक संस्थानों के प्रति रक्षा भावना एवं देश-विदेश के महात्माओं एवं विद्वानों के प्रति ज्ञान-प्राप्ति की जिज्ञासा। बुद्ध के माध्यम से रामवृक्ष बेनीपुरी ने वास्तव में राष्ट्रों के लिए आचार संहिता का निर्माण किया है, जिन पर चलकर कोई भी राष्ट्र उन्नति को प्राप्त कर सकता है। उन्होंने नाटक में देश और समाज के ज्वलंत प्रश्नों को बड़ी सहजता से उठाया है और बुद्ध के माध्यम से उनका समाधान भी प्रस्तुत किया है। यह नाटक देश और समाज का आदर्श तो प्रस्तुत करता ही है, अष्टांगिक मार्ग के माध्यम से व्यक्तित्व निर्माण के लिए भी मार्ग प्रशस्त करता है।

रामवृक्ष बेनीपुरी का ‘विजेता’ नाटक ऐतिहासिक नाटकों की कड़ी में अंतिम नाटक है, जिसकी घोषणा इसकी भूमिका में उन्होंने स्वयं की है। साहित्यिक परम्परा में चले आ रहे चन्द्रगुप्त के चरित्र और व्यक्तित्व को विस्तार देने के लिए उन्होंने इस नाटक की रचना की। भूमिका में उन्होंने कहा है कि चन्द्रगुप्त का यह साहित्यिक रूप आधुनिकतम ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित है, जिसे उन्होंने युगानुरूप गढ़ा है। चार अंकों और चार दृश्यों में विभाजित इस नाटक में कुल पाँच पात्र हैं- तीन पुरुष और दो स्त्री। जैसाकि पूर्व विदित है, चन्द्रगुप्त के जीवन की डोर चाणक्य के हाथ में है। यह बात चन्द्रगुप्त की माता और श्वेतकेतु दोनों कहते हैं किन्तु चन्द्रगुप्त स्वयं को स्वतन्त्र मानता है। पाटलिपुत्र पर विजय प्राप्त करके ही वह नहीं रूकता, यूनानी सेनापति सिल्युकस को भी पराजित करता है और उसकी कन्या से चाणक्य के कहने पर विवाह करता है किन्तु उसकी माँ चन्द्रा से उसका विवाह करा देती है। इसके वर्षों बाद पाटलिपुत्र में अकाल पड़ता है और जनता भूख और प्यास से तड़प-तड़प कर मरने लगती है। इसका प्रायश्चित्त करने के लिए चन्द्रगुप्त जैन धर्म के अनुसार साठ दिन तक निर्जल-निराहार रहकर प्राण त्याग देने का प्रण लेता है।

रामवृक्ष बेनीपुरी के नाटक ‘विजेता’ में ऐतिहासिक घटनाओं और निर्णयों के पीछे आधुनिक सन्दर्भ छिपे हैं। जिस समय चाणक्य चन्द्रगुप्त से पाटलिपुत्र पर आक्रमण करने का निर्देश देता है उस समय पाटलिपुत्र में नन्द के अत्याचारों से हाहाकार मचा था। न किसी की सम्पत्ति सुरक्षित थी और न प्रतिष्ठा। बहू-बेटियों का सतीत्व भी सुरक्षित नहीं था। यही स्थिति ब्रिटिशकालीन भारत की भी थी। 1942 ई. के पूर्व ऐसी परिस्थितियाँ निर्मित हो गयी थीं कि ब्रिटिश सत्ता कमजोर थी। द्वितीय विश्वयुद्ध ने उसे और कमजोर बना दिया था। ऐसी स्थिति में भारत छोड़ो आंदोलन का प्रारम्भ ऐसा निर्णय साबित हुआ, जिसने ब्रिटिश सत्ता की नींव हिला दी। इस आंदोलन के बाद जब इस बात के आसार बढ़ गए कि देश को आज़ादी मिलने वाली है, तो आज़ादी की रूपरेखा और राष्ट्र के स्वरूप को लेकर लम्बी बहस चली। नाटक में बार-बार राज्य से परे, देश और राष्ट्र की बात आती है। चाणक्य का ‘चक्रवर्तित्व’ वर्तमान का ‘राष्ट्र ही है, जिसे हासिल करने का स्वप्न वह चन्द्रगुप्त को दिखाते हैं। ‘आसेतु हिमाचल’ का एकछत्र राज्य इसका मूर्त रूप है। जिस भारत माता की कल्पना भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में की गई,

रामवृक्ष बेनीपुरी ने चाणक्य के माध्यम से उस ‘भारत माता’ को मूर्त रूप दिया है- कश्मीर की किरिटी से जगमग हिमालय जिसका मस्तक है, सिन्धु ब्रह्मपुत्र आँचल के दो छोर हैं, गंगा का कछार वक्षस्थल है, पाटलिपुत्र उसका हृदय, सह्याद्रि मलयाद्रि माता की दो जंघाएँ हैं और कन्याकुमारी पदनख है, जिसे सागर प्रक्षालित करता रहता है। यह चन्द्रगुप्त के साम्राज्य का सीमांकन तो है ही, देश को एक सूत्र में पिरोने का संकल्प भी है। स्वतन्त्रता संग्राम के दौरान सम्पूर्ण देश को एक सूत्र में बाँधे रखना बहुत बड़ी चुनौती थी, जिसे स्वतन्त्रता संग्राम सेनानियों ने स्वीकार किया और देश को एकसूत्र में बाँधने का प्रयास किया। देश की स्वतन्त्रता के बाद रियासतों का विलय इसी सोच का परिणाम है।

रामवृक्ष बेनीपुरी चाणक्य के माध्यम से केवल राष्ट्र और देश की ही बात नहीं करते, ‘वसुधैव कुटुम्बकम्’ के माध्यम से भूमण्डलीकरण और वैश्वीकरण की बात भी करते हैं। सिल्युकस की पुत्री का चन्द्रगुप्त से विवाह कराकर वे इसकी नींव रखते हैं। जिस भूमण्डलीकरण को मूर्तरूप नब्बे के दशक में मिला, उसकी कल्पना रामवृक्ष बेनीपुरी ने देश की आज़ादी से पूर्व ही कर लिया था। वह पूरब-पश्चिम, श्याम-श्वेत-वर्ण-भाषा, सीमा-दिशा आदि के सारे भेदभाव मिटाने की बात करते हैं।

रामवृक्ष बेनीपुरी ने ‘विजेता’ नाटक में राष्ट्र बनाम व्यक्ति के मुद्दे को भी उठाया है। चाणक्य राष्ट्र को महत्व देता है और चन्द्रगुप्त व्यक्ति को। चन्द्रगुप्त कोमलता, प्रेम, स्नेह, ममता आदि को बचाए रखने के लिए प्रयत्नशील है। चाणक्य सीधे कहता है कि जहाँ राष्ट्र की बात हो, वहाँ व्यक्ति के हित मायने नहीं रखते। वह चन्द्रगुप्त को कोमल भावना से दूर रहने की बात करता है। इसी क्रम में वह अपनी कमजोरियों का खुलासा करता है और आदर्श को कमजोरियों को ढकने का आवरण बताया है। इसके माध्यम से रामवृक्ष बेनीपुरी ने आदर्श और यथार्थ की बहस को आगे बढ़ाया है।

रामवृक्ष बेनीपुरी के ‘अम्बपाली’ और ‘तथागत’ नाटक बौद्ध दर्शन की महत्ता स्थापित करते हैं, जबकि ‘विजेता’ में जैन दर्शन को प्रतिष्ठा दी गई है। कवि श्वेतकेतु जैन धर्म का अनुयायी है, जिसे अस्त्रों-शस्त्रों को देखकर ही ज्वर आने लगता है। वह बार-बार अहिंसा की बात करता है। अपने जीवन के अंतिम समय में चन्द्रगुप्त भी जैन धर्म से प्रभावित दिखाई देता है। राज्य में अकाल पड़ने पर चन्द्रगुप्त प्रायश्चित्त के लिए जैन धर्म के अनुसार साठ दिनों तक निर्जल-निराहार व्रत रखकर प्राण त्यागने का निश्चय करता है और उसके लिए स्थान चुनता है नीलगिरि की पहाड़ी।

रामवृक्ष बेनीपुरी स्त्री के अधिकारों और उसके हितों को लेकर सजग हैं। चन्द्रगुप्त से प्रेम करने वाली चन्द्रा तो आम नारी की तरह त्याग की मूर्ति बनी है, किन्तु उसकी माँ स्त्री अधिकारों को लेकर सजग है। वह चन्द्रा को हथियार चलाना सिखाकर चन्द्रगुप्त के बराबर बनाती है, क्योंकि उसका कहना है कि स्त्री पुरुष के आधे भाग की अधिकारिणी होती है, इसलिए उसे वह सब कुछ जानना होगा, जो पुरुष जानता है। पुरुष के बराबर होकर ही, उससे कन्धा मिलाकर ही, वह अपने अधिकार प्राप्त कर सकती है क्योंकि निर्बल को उसका हिस्सा, उसका अधिकार नहीं मिलता। चन्द्रगुप्त की माँ का यह विचार स्त्री सशक्तीकरण के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कदम है। इसके माध्यम से रामवृक्ष बेनीपुरी ने स्त्री को नई दिशा दी है।

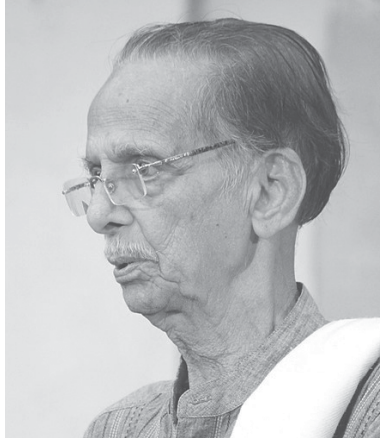
....पृष्ठ 23 पर जारी



पणिक्कर और आधुनिकता

पुष्पा बरनवाल

कावलम नारायण पणिक्कर भारतीय रंगमंच का ऐसा प्रसिद्ध नाम है जिन्होंने संस्कृत, मलयालम और हिन्दी रंगमंच के बीच शास्त्रीय और देशी लोक रंग के सुर-ताल को मिलाकर एक अनूठा नाट्य शिल्प निर्मित किया। यत्कीनन यही वह विशिष्टता भी है जिसने पणिक्कर को प्रयोगधर्मी रंग सर्जक होने की गरिमा प्रदान करने के साथ-साथ आलोचित किया। पणिक्कर के विशाल रंग संसार में 26 मलयालम नाटक संस्कृत एवं अंग्रेजी (विशेषकर शेक्सपियर) के प्रसिद्ध अनुदित नाटकों के अलावा 'थय्यम', 'कुडियट्टम' जैसी केरल की समृद्ध लोक नाट्य परम्परा का भी निर्वहन हुआ है। उनके प्रसिद्ध थिएटर ग्रुप 'सोपानम' (परिवर्तित नाम 'भाषा भारती') की इसमें महती भूमिका रही है। विविधमुखी प्रतिभा के धनी पणिक्कर कवि हृदय, नाटककार, रंग निर्देशक, लोकरंग कर्मी रहे हैं, जिन्होंने संस्कृत के नाटकों को अभिजात्य वर्ग की शुद्धतावादी और भ्रमित मानसिकता की जकड़बंदी से बाहर निकाला और लोकरंग रस से संचरित कर उसे पुनर्जीवित करने का काम किया। इनकी इस प्रयोगधर्मिता ने पुरानी व नई पीढ़ी के रंगनिर्देशकों के बीच व्यावहारिक सेतु का काम किया, जिससे नाट्यशास्त्र का संचित खजाना व्यावहारिक संभावनाओं के धरातल पर उतरा। पणिक्कर के नाट्यप्रयोग की यह यात्रा संस्कृत नाटक 'मध्यमव्यायोग' (1978) से आरम्भ होती है, जिसने आगे चलकर वैश्विक रंगमंच को प्रभावित करने के साथ चुनौती भी दी।



प्रश्न उठता है कि आखिर पणिक्कर भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' को समकालीन समय में किस दृष्टि से उपयोग और प्रयोग कर रहे थे? 'केरल और नाट्यशास्त्र' नामक साक्षात्कार में उन्होंने नाट्यशास्त्र की प्रासंगिकता पर जोर देते हुए कहा कि, "यह समय के आर-पार फैली हुई है। मैं यह कहना चाहता हूँ कि नाट्यशास्त्र पीढ़ी-दर-पीढ़ी अंतरित होता

चला गया है। इसकी एक के बाद दूसरी व्याख्याएँ होती चली गई हैं"। पणिक्कर ने नाट्यशास्त्र को मात्र पोथी या शास्त्र मानने से इंकार करते हुए सांस्कृतिक विरासत 'थय्यम', 'कुडियट्टम' जैसे लोकनाट्य रूपों में प्रयोग भी किया। एक बात विशेष रूप से गौर करने की है कि उन्होंने भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' के आधार पर उन संस्कृत नाटकों में अधिक प्रयोग किया जो भास द्वारा रचित हैं, वही भास जिनके यहाँ नाट्यशास्त्र के सिद्धांतों का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष निषेध दिखता है। सवाल यह उठता है कि सतत सामाजिक-सांस्कृतिक विकास परम्परा में पणिक्कर की यह प्रयोगधर्मी रंगयात्रा विकास बनाम आधुनिकता का नया प्रतिमान गढ़ती है या वे इसी बहाने किसी दूसरी शास्त्रीय / भारतीय / देशज आधुनिकता का सपना संस्कृत नाटकों में देख रहे थे। क्या उनकी घोषित आधुनिकता आज के भारतीय समाज की सांस्कृतिक संरचना को कोई सकारात्मक गति प्रदान करती है? या पुनरुत्थान के सांस्कृतिक राष्ट्रवाद को ही भव्यता प्रदान करती है? यह निर्विवाद है कि ज्ञान की सतत परम्परा ने स्थापित किया है कि समाज और संस्कृति निरन्तर परिवर्तनशील है और इसका निर्माता स्वयं मनुष्य है, कोई दैवीय सत्ता नहीं परन्तु यह भारत की विडम्बना ही है कि नवजागरण के बाद मध्ययुगीनता के मूल्यों को समाप्त किए बगैर आधुनिकता और उत्तर आधुनिकता की घोषणा क्रमशः हो गई। भारतीय धार्मिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि अलौकिक और रहस्यवादी सत्ता के भाववादी तत्त्वों से सम्प्रेषित रही है, जिसके कारण अभी भी काट की 'सपेयर आडे' यानी स्वयं की तर्क बुद्धि के साहस के उपयोग की मानसिकता खण्डित, अपूर्ण और सतही तौर पर दिखाई पड़ती है। यही वजह है कि भारतीय सांस्कृतिक चेतना में अंतर्विरोध और विरुद्धों का सामंजस्य चरम पर दिखता है। सैद्धांतिक और व्यावहारिक स्तर पर

भावात्मकता और तार्किकता का यह द्वन्द्व बिल्कुल स्पष्ट दिखता है। विशेष रूप से कलाओं में प्रयोग के स्तर पर तो यह स्थिति बेहद जटिल हो जाती है। ऊपरी तौर पर तो बहुत सारे दृश्य और संवाद प्रयोग के बरक्स आधुनिक और सकारात्मक लगते हैं परन्तु गहराई में देखने से वस्तुस्थिति कुछ और ही नज़र आती है। यही स्थिति पणिककर की प्रयोगधर्मी रंगदृष्टि में भी साफ़ झलकती है। उदाहरण के तौर पर देखें तो भास के नाटकों में देवता, ईश्वर और ब्राह्मणों का गुणगान, समृद्धि, चमत्कार, भोग-विलास का यश और शूद्रों, राक्षसों, दैत्यों का अपयश ही भरा हुआ है। पणिककर जब इन नाटकों के मूल पाठ को मंच पर लाने का जोखिम उठाते हैं, लिखित पाठ के इंगित इशारे के अनुकूल, पारम्परिक नाट्यकर्म को निरन्तर करने के उनके अनुभव और वैयक्तिक रुचि, संगीत, नृत्य, छंद सबको घुला-मिलाकर एक नया नाट्य रस-रंग तैयार करते हैं, तो उनका क्रदम भविष्य की ओर नहीं, अतीतोन्मुखी अधिक दिखता है जिसमें 'वेद', 'नाट्यशास्त्र' और धार्मिक अंध आस्थाओं के प्रति व्यामोह और पाश्चात्य नाट्यशैलियों के प्रति प्रतिक्रियात्मक नज़रिया इस उद्देश्य में सहायक बनता है।

'अविमारक' (भास रचित नाटक) सहित उनकी कई नाट्यप्रस्तुतियों के मंगलाचरण में यह दृष्टिकोण बेहद स्पष्ट दिखता है जहाँ परम्परा के नाम पर वेदपाठ की अष्टविकृतियों में इसके पदों को बाँटा गया है जबकि भास का इस सन्दर्भ में कोई निर्देश नहीं मिलता है। स्वयं पणिककर के शब्दों में, "यह वैसी ही स्थिति लगती है, जैसी आत्मा को परिकल्पित करने के लिए मुखौटे का प्रयोग। उसका हर काम उसमें समाई आत्मा को अर्पित था। पान, सुपारी, तंबाकू-दारू पीना और यहाँ तक कि उसके उत्साह भरे गीत और नृत्य भी पंचरूली को समर्पित थे। पंचरूली की आत्मा में विलयन के तीव्र भाव के कारण उसे यह विश्वास हो गया कि वह मर नहीं सकता।" यहाँ आत्मा का किसी मनुष्य के सिर पर भूत-प्रेत बनकर आने का जिक्र है। प्रेतात्मा को पणिककर लोक आस्था (अंधविश्वास) के एक रूप 'थय्यम' से लेते हैं, जो केरल के गीतों में अकाल मृत्यु से उपजी एक लोक धारणा है, जिसकी स्थापना प्रतिमा के रूप में गाँव से बाहर की जाती है। यह एक तरह से मृतात्मा की लोक प्रतिष्ठा है। इस लोक कथा का प्रयोग पणिककर भास के 'कुरुभंगम' नाटक में बहुत ही खूबसूरती से करते हैं। यह प्रयोग भी नाट्यशास्त्र के अनुकूलन में ही होता है। 'नाट्यशास्त्र' में मंच पर मृत्यु/लाश को दिखाना निषेध है, जबकि भास के पाठ में मृत्यु मंच पर अपने यथार्थ के साथ उपस्थित है। इस एकांकी के अंत में जब टूटी हुई जाँघ वाले दुर्योधन के भूमि पर गिर जाने के बाद, याद रहे, दुर्योधन अभी मरा नहीं है; पणिककर ने जीवित दुर्योधन के समानान्तर एक थय्यम/मृतात्मा दुर्योधन को खड़ा कर दिया है। दोनों में संवाद भी होता है। फिर धीरे-धीरे ज़मीन से घय्यम / प्रेत मूल जीवित दुर्योधन को ढकते हुए खड़ा होता है और असली दुर्योधन (पाठ) स्वर्ग से आए हुए दूतों के रथ पर सवार होकर प्रसन्नचित मुद्रा में स्वर्ग चला जाता है। इस प्रयोग में कुछ उल्लेखनीय पहलू उभरकर आते हैं। पहला कि मंच पर दुर्योधन की साक्षात् मृत्यु न दिखाकर नाट्यशास्त्र के जड़ सिद्धांत का निर्वाह किया गया। साथ ही भास के भरतविरोधी होने पर भी पर्दा डाला गया। दूसरा 'थय्यम' जैसी लोक आस्था के प्रयोग से धार्मिक अंधविश्वास और मिथक को भव्यतापूर्वक महिमामंडित किया जाता है। तीसरा भास ने दुर्योधन की मृत्यु के यथार्थ को संवाद मंच पर ही दिखाने का जो

साहस किया है, उसका अवैज्ञानिक और यथार्थहीन पाठ प्रस्तुत किया जाता है जो 'कुरुभंगम' के साथ-साथ 'प्रतिनाटकम', 'बालचरितम' आदि नाटकों में भी दोहराया गया है।

'नाट्यशास्त्र' में एक शब्द 'मत्तवारिणी' का उल्लेख हुआ है। यह रंगपीठ का वह स्थान है जो डेढ़ हाथ ऊँचा और चार खम्भों पर टिका होता है और जिसका उपयोग पात्रों के छुपने के स्थान के रूप में किया जाता है। 'नाट्यशास्त्र' के भाष्यकारों में इसे 'बरामदा' का नाम दिया है, चूँकि भास नाट्यशास्त्रीय नियमों का अनुसरण नहीं करते, अतः वे अपने नाटकों में 'मत्तवारिणी' का प्रयोग न करके पात्रों के छुपने का स्थान मंच के किसी भी हिस्से में लता-झाड़ी जैसे यथार्थवादी रूपों के इस्तेमाल से निर्धारित करते हैं जबकि पणिककर इस 'मत्तवारिणी' का प्रयोग और व्याख्या अनूठे ढंग से करते हैं- 'मत्तवारिणी' शब्द से मुझे लगा कि इसके दो आयाम हो सकते हैं। पहला मत्त, दूसरा वारिणी। यह देखने की बात है कि इन आयामों को जोड़ने पर कौन-सी तस्वीरें उभरती हैं। 'मत्त' से आशय है पियक्कड़ या वशीभूत और 'वारिणी' से आशय है हाथी। हाथी भी मदमस्त अवस्था में आ सकता है। इसी तरह अभिनेता जिस चरित्र पर क्राबिज़ हो जाता है, वह उसके नशे में चूर हो जाता है। वारिणी से एक आशय यह भी लिया जाता है : वारिणी जो वरण करती है। इस तरह 'मत्तवारिणी' वह क्षेत्र है जहाँ मद का वरण होता है, जहाँ वशीकरण को उतारा जाता है। निर्लिप्त और आविष्ट दोनों ही आशय इस शब्द से निकलते हैं। पणिककर ने इसका प्रयोग 'थय्यम' सहित लगभग सभी नाटकों में किया परन्तु इस प्रयोग के कुछ निहितार्थ खुलते हैं जैसे- वशीकरण, सम्मोहन या अभिनेता चरित्र पर शराब की तरह मद का चढ़ जाना या अभिनेता का पाठगत चरित्र में आत्मा की तरह समा जाना (परकाया प्रवेश), यहाँ भी नाट्यशास्त्र को लागू किया जाता है। दर्शक इस चरित्र की भावना में ओतप्रोत होता जाता है और जब चरित्र का भूत अभिनेता के सिर से उतारा जाता है और पुनः उस पर दूसरा चरित्र सवार होता है, तब वह चढ़ने-उतारने की निरंतरता को प्राप्त करता है। पणिककर इस प्रक्रिया को ब्रेख्त के 'अभिनेता का अलगाव' सिद्धांत का प्रारम्भिक रूप मानते हैं, ठीक उसी तरह जैसे आज सभी उपलब्धियों के बीज वेदों में तलाशे जा रहे हैं, जबकि यह बिल्कुल तर्कसंगत नहीं है। कारण ब्रेख्त का अभिनेता कभी भी अपने ऊपर चरित्र को मदमस्त या मत्तवारिणी की तरह सवारी करने नहीं देता, न वहाँ परकाया प्रवेश होता है। वहाँ तो अभिनेता सचेत रूप से चरित्र से दूरी बनाकर रखता है और हर समय उसे यह भान रहता है कि वह पात्र विशेष का अभिनय कर रहा है, इसी भाव दशा में वह दर्शकों से संवाद भी करता रहता है कि मैं सजग और सचेत रूप से चरित्र और दर्शकों के मध्य संतुलित दूरी बनाए हूँ। जो दर्शक 'नाट्यशास्त्र' अनुसार चरित्र और अभिनेता की एकरूपता में खोकर भावुक हो जाते हैं उन्हें वह बार-बार अपनी तार्किकता से झकझोरता और बेचैन करता है। ब्रेख्त का एपिक थिएटर दर्शकों को तार्किक, बौद्धिक व बेचैन बनाता है जबकि पणिककर की मत्तवारिणी के नशे/भावुकता में दर्शक अभिभूत हो हँसता, रोता, गाता है, पूजा भाव में हाथ जोड़ अंधविश्वासी बनता है।

इसी से जुड़ा हुआ एक बहुत ही महत्वपूर्ण पक्ष क्लासिक नाटकों में लोकरंग के प्रयोग का है, जिसमें पणिककर तकनीकी रूप से दक्ष दिखते हैं लेकिन सवाल यह है कि आखिर लोक के किस तत्त्व का

....पृष्ठ 23 पर जारी

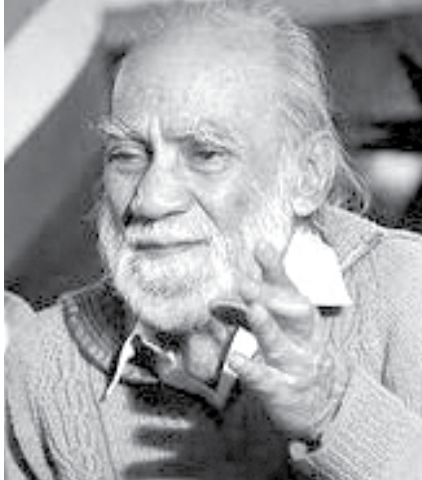


बादल सरकार : पारम्परिक रंगमंच के पुरोधा

शैलेन्द्र चौहान

बादल सरकार के अनुसार शहरी रंगमंच पश्चिम से प्रभावित है और ग्रामीण रंगमंच पारम्परिक शैलियों से और दोनों में ही अंतर्वस्तु की कमी है। शहरी रंगमंच अपने प्रोसेनियम दायरे में बँधा है और ग्रामीण या पारम्परिक रंगमंच अपनी पुरानी शैलियों में, जिसमें प्रखर राजनैतिक चेतना का अभाव है। बादल सरकार आधुनिक रंगमंच को प्रोसेनियम दायरे से निकाल कर लोगों के बीच ले गए। गाँवों और कस्बों में ले गए। रंगमंच को उन्होंने राजनैतिक चेतना से लैस किया। उनके नाटक 'जुलूस' (बांग्ला में 'मिछिल') ने अखिल भारतीय स्तर पर 1974-75 के दौर में (जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में शुरू हुए छात्र आंदोलन का दौर) रंगकर्मियों और नाट्य प्रेमियों की कल्पनाशीलता को बेहद प्रभावित किया। नुक्कड़ नाटकों को लोकप्रिय बनाने, उसे रंगमंच की समकालीन बहस के बीच लाने में सबसे बड़ा योगदान बादल सरकार का ही है।

बादल सरकार उर्फ सुधीन्द्र सरकार का जन्म 15 जुलाई, 1925 को कोलकाता के एक ईसाई परिवार में हुआ। पिता महेन्द्रलाल सरकार 'स्कॉटिश चर्च कॉलेज' में पढ़ाते थे और विदेशियों द्वारा संचालित इस संस्था के वे पहले भारतीय प्रधानाचार्य बने थे। माँ, सरलमना सरकार से बादल सरकार को साहित्य की प्रेरणा मिली। 1941 में प्रथम श्रेणी में मैट्रिक पास करने के बाद वे शिवपुर इंजीनियरिंग कॉलेज में भर्ती हुए और 1946 में सिविल इंजीनियर बने। बादल सरकार ने 1947 में नागपुर के पास एक निर्माण संस्था में पहली नौकरी की। बाद में वे फिर कोलकाता लौट आए जहाँ उन्होंने जादवपुर और कोलकाता विश्वविद्यालय में इंजीनियर की नौकरी की। वे उन दिनों नौकरी के साथ-साथ शिवपुर इंजीनियरिंग कॉलेज में



सायंकालीन कक्षाओं में 'टाउन प्लानिंग' डिप्लोमा के लिए पढ़ाई करते रहे। 1953 में दोमादर वैली कॉरपोरेशन की नौकरी लेकर माइथन गए। माइथन में बादल सरकार 1956 तक थे। इसी दौरान नाटक के प्रति उनका रुझान दिखने लगा। दफ्तर के सहकर्मियों के साथ मिलकर एक अभिनव रिहर्सल क्लब की शुरुआत की, जहाँ बादल सरकार के शब्दों में, "रिहर्सल होगा पर नाटक का मंचन कभी नहीं होगा।" जैसा अभिनव नियम लागू किया गया था, पर बाद में सदस्यों के उत्साह से इस नियम में तोड़कर नाटकों के मंचन की शुरुआत हुई। बचपन से ही बादल सरकार

नाटकों के प्रति आकर्षित थे। उन्हें नाटकों में हास्य रस सबसे ज्यादा पसन्द था, लिहाजा यह स्वाभाविक ही था कि उनके प्रारम्भिक नाटकों में हमें यह तत्व ज्यादा मुखर दिखता है। वे इसे 'सिचुएशन कॉमेडी' कहते हैं। उनका 1956 में लिखा गया पहला नाटक 'सॉल्यूशन एक्स' था। यह नाटक एक विदेशी फ़िल्म 'मंकी बिज़नेस' की कहानी पर आधारित एक सिचुएशन कॉमेडी के रूप में प्रसिद्ध हुआ। 1957 से 1958, इन दो वर्षों के दौरान उन्होंने इंग्लैंड में 'टाउन-प्लानिंग' का कोर्स करने के साथ-साथ नौकरी की। इसी समय उन्हें प्रसिद्ध अभिनेताओं का अभिनय देखने का मौका मिला। विवयन ली, चार्ल्स लैटन, माइकल रॉडरेथ, मार्गरेट

कॉलिन्स आदि के अभिनय और वहाँ के रंगकर्म से वे बेहद प्रभावित हुए पर शायद उनके 'तीसरे रंगमंच' की नींव की पहली ईंट के रूप में फ्रेंच कवि रॉसिन की कृति 'फ़िडू' नाटक को देखने का अनुभव था। 21 फ़रवरी, 1958 को देखे गए 'थिएटर-इन-राउण्ड' में इस प्रस्तुति के बारे में अपने अनुभवों को डायरी के पन्नों में दर्ज करते हुए उन्होंने लिखा था, "आज जो देखा उसे कभी भुला न पाऊँगा।" मुक्त मंच के इस अनुभव

को हम वर्षों बाद उनके तीसरे रंगमंच की अवधारणाओं में विकसित होते देख पाते हैं। इंग्लैंड प्रवास के दिनों में ही उन्होंने 'बोड़ो पीशीमाँ' (बड़ी बुआजी) लिखा। इसी समय उन्होंने एक छोटा नाटक 'शनिवार' लिखा। यह नाटक जी.बी. प्रिस्टले के नाटक 'एन इन्स्पेक्टर कॉल्स' पर आधारित था। 1959 में वे इंग्लैंड से कोलकाता लौट आए और आते ही अपने उत्साही मित्रों के साथ 'चक्रगोष्ठी' नाम से एक 'नाट्य संस्था' की नींव रखी। हर शनिवार को इस गोष्ठी में नाटक के साथ-साथ संगीत, साहित्य, विज्ञान आदि विभिन्न विषयों पर चर्चा होती थी। इसी 'चक्रगोष्ठी' के प्रयास से उनके कई आरंभिक नाटकों से दर्शक परिचित हुए। 'बोड़ो पीशीमाँ', 'शोनिवार', 'समावृत', 'रामश्यामजटु' आदि इनमें प्रमुख हैं। इसके बाद बादल सरकार फ्रांस सरकार के आर्थिक अनुदान पर वहाँ गए और फिर तीन वर्षों तक नाइजीरिया में नौकरी की। इस विदेश प्रवास के दौरान उन्होंने 'एबों इन्द्रजित', 'सारा रात्तिर', 'बल्लभपुरे रूपकथा', 'जोदी आर एकबार', 'त्रिंश शताब्दी', 'पागला घोड़ा', 'प्रलाप', 'पोरे कोनोदिन' जैसे महत्वपूर्ण नाटक लिखे। भारत वापस लौटने के पहले ही 'एबों इन्द्रजित' बहुरूपी नाट्य पत्रिका में (अंक : 22 जुलाई, 1965) प्रकाशित हुआ। इसके प्रकाशन के साथ ही बादल सरकार की ख्याति चारों ओर फैल गई। इसका पहला मंचन 'शौभनिक' नाट्य संस्था ने 16 दिसम्बर, 1965 को किया। नाटक के प्रकाशन और मंचन ने नाट्य जगत में मानो धूम मचा दी। 1968 में उन्हें इस नाटक के लिए संगीत नाटक अकादमी पुरस्कार मिला। नाइजीरिया से भारत लौटने के तुरन्त बाद उन्होंने 'बाक्री इतिहास' लिखा। उन दिनों शम्भु मित्र रंगमंच के शीर्षस्थ व्यक्तियों में थे। उनकी नाट्य संस्था 'बहुरूपी' ने 'बाक्री इतिहास' का सफल मंचन किया। ये दोनों नाटक उनके 'सिचुएशनल कॉमेडी' वाले नाटकों से बिल्कुल भिन्न थे, जो भारतीय रंगमंच में एक नए युग का संकेत था।

1967 में उन्होंने अपने साथियों के साथ 'शताब्दी' नाट्य संस्था की स्थापना की। 18 मार्च, 1967 को 'रवीन्द्र सरोवर मंच' से 'शताब्दी' ने अपनी रंगयात्रा शुरू की। 1956 से लेकर 1967 तक के सभी नाटक बादल सरकार ने 'प्रोसेनियम मंच' के लिए लिखे थे। लिहाजा 'शताब्दी' की आरंभिक प्रस्तुतियाँ 'प्रोसेनियम' ही थीं। 1971 से रंगमंच को लेकर बादल सरकार की अवधारणाएँ तेजी से बदलने लगी थीं और वे निरन्तर प्रयोग कर रहे थे। प्रयोगों के इस दौर से गुजरते हुए वे 'तीसरे रंगमंच' तक जल्द ही पहुँच सके। वे मानने लगे थे कि 'नाटक एक जीवन्त कला माध्यम है। लोगों का दो समूह—एक ही वस्त्र, एक ही स्थान पर इकट्ठे होकर एक कला माध्यम के साथ जुड़ रहे हैं—अभिनेताओं और दर्शकों के दो समूह के रूप में। यह एक मानवीय क्रिया है— मनुष्य का मनुष्य के साथ जुड़ाव। सिनेमा हमें ऐसे प्रत्यक्ष जुड़ाव का मौका नहीं देता।' ऐसे ही विचारों से रंगमंच पर प्रयोग करते हुए, उन्होंने अंततः रंगमंच को सार्थक कला माध्यम के रूप में स्थापित करने के उद्देश्य से, प्रोसेनियम रंगमंच को त्याग, तीसरे रंगमंच को आम जनता तक एक 'फ्री-थिएटर' के रूप में ले जाने में कामयाबी हासिल की।

तदुपरांत 1970 से 1993 तक बादल सरकार के सभी नाटक तीसरे या विकल्प के रंगमंच को ध्यान में रखकर लिखे गए। 'शताब्दी' के अलावा पूरे देश में इन नाटकों को विभिन्न भाषाओं में, छोटे-बड़े शहरों-कस्बों में विभिन्न नाट्य संस्थाओं द्वारा खेला गया। बादल सरकार

के तीसरे रंगमंच ने भारत की भाषाई, प्रांतीय और सांस्कृतिक दूरियों को खत्म कर पहली बार सार्थक भारतीय रंगमंच विकसित करने की दिशा में एक सफल प्रयास किया। मराठी, हिन्दी, पंजाबी, गुजराती, मलयाली, कन्नड़, उड़िया आदि भारतीय भाषाओं में उनके नाटक मंचित हुए और किसी-न-किसी रूप में देश के सभी प्रांतों के रंगकर्मीयों को तीसरे रंगमंच ने अपनी ओर आकर्षित किया। प्रसिद्ध कला और साहित्य समीक्षक चिन्मय गुहा ने बादल सरकार के जीवन और कृतित्व पर चर्चा करते हुए 'आनन्द बाजार पत्रिका' में लिखा है, जो बेहद गौरतलब है, "आज से सौ वर्ष बाद शायद इस बात पर बहस हो कि क्या बीसवीं और इक्कीसवीं सदी के संधि काल में एक ही साथ तीन-तीन बादल सरकार हुए थे जिनमें से एक ने सरस पर बौद्धिक रूप से प्रखर संवादों से भरे, कॉमिक स्थितियों की बारीकियों पर अपनी पैनी नज़र साधे, बेहद प्रभावशाली हास्य नाटक लिखे थे। दूसरे, जिन्होंने समाज में हिंसा के, विश्व राजनैतिक खींचातानी के चलते युद्ध की काली परछाई के, परमाणु अस्त्रों के, आतंक के और समाज में बढ़ती आर्थिक असमानता के खिलाफ अपनी आवाज़ को अपने नाटकों में दर्ज किया था और तीसरे, जिन्होंने प्रेक्षागृहों के अंदर कैद मनोरंजन प्रधान रंगमंच को एक मुक्ताकाश के नीचे आम जनता तक पहुँचाने का सपना देखा था।"

आज से कुछ दशकों के बाद के पाठकों को शायद इन तीनों बादल सरकार को एक ही व्यक्तित्व के रूप में चिह्नित करने में कठिनाई होगी लेकिन राहत की बात कि भारतीय जनता के सुख-दुख, उनकी चिन्ताओं, उनकी समस्याओं और सत्ता द्वारा उनके शोषण की समानता के चलते उनकी जो एक विशिष्ट पहचान बनी थी। भाषा, प्रान्त और संस्कृति के बीच की दीवारों को तोड़े कर बनी थी। इसी विशिष्ट पहचान को आधार मानकर भारतीय रंगमंच का विकास सम्भव हुआ था।

सन् 1961 में उनका तीसरा नाटक 'राम श्याम जोदू' आया जो एक विदेशी कहानी पर आधारित था। इस नाटक की सफलता ने उन्हें एक अलग किस्म के थिएटर का जनक बनाया, जिसे भारत में 'थर्ड थिएटर' और 'साइको फ्रिज़िकल थिएटर' (मनो-शारीरिक रंगमंच) के नामों से जाना गया। सन् 1963 में उन्होंने दो नाटकों का निर्देशन किया। ये नाटक थे- 'एवम् इन्द्रजीत' और 'वल्लभपुर की रूपकथा।' इन नाटकों के साथ ही बादल सरकार का नाम हर रंगकर्मी की जुबान पर छा गया। सिनेमा-टेलीविज़न और तमाम अन्य मनोरंजन के साधनों के ज़रिए जहाँ सत्ता की संस्कृति जन संस्कृति के खिलाफ व्यापक रूप से सक्रिय हो रही थी और जनता के सरोकारों और सवालियों से उन्हें भ्रमित करने में लगी थी, तब समाज परिवर्तन के उद्देश्य से न सही, महज़ एक देशव्यापी प्रतिरोध की संस्कृति को ज़िन्दा रखने के लिए, तीसरे रंगमंच ने एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। बादल सरकार और उनके 'तीसरा रंगमंच' को आने वाले कल के पाठक उसी तरह से अपने करीब पाएँगे जितने करीब और आत्मीय सरकार आज हमारे हैं। बादल सरकार ने अपने साथियों के साथ 'परिक्रमा' कार्यक्रम के साथ बंगाल के अनेक जिलों में गाँव-गाँव जाकर नाटक किए और बंगाल के ग्रामीण जनों से सीधा रंग सम्पर्क बनाया। नादिया, 24 परगना आदि जिलों में भी गाँव-गाँव घूमकर बादल सरकार ने रंगकर्म का संदेश दे कर अभिजात्य नाट्य जगत को चुनौती दी। उनके नाटकों में कलाकारों और दर्शकों के बीच

....पृष्ठ 23 पर जारी



नेशनल थिएटर पॉलिसी से गाँव-गाँव तक पहुँचेगा रंगमंच का संदेश

(राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के निदेशक रमेश चन्द्र गौड़ से संजीव श्रीवास्तव की बातचीत)

देशभर में रंगमंच और नाटक को बढ़ावा देने में दिल्ली स्थित राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय का अपना अहम योगदान रहा है। यह रंगमंच की एक राष्ट्रीय धरोहर है। यहाँ की निकली हुई तमाम विभूतियों ने रंगमंच और सिनेमा के पर्दे पर विश्वस्तरीय प्रसिद्धि हासिल की है। आज के दौर में हिन्दी रंगमंच की क्या स्थिति है और इसे किस तरह जन-जन तक पहुँचाया जा सकता है, ऐसे सवालों को लेकर प्रस्तुत है बातचीत के प्रमुख अंश—

प्रश्न : एनएसडी यानी राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय की अपनी एक लम्बी परम्परा है। यहाँ निदेशक पद पर कई बड़ी हस्तियाँ रह चुकी हैं। अब आपको यह दायित्व मिला है। कृपया बताएँ कि कितनी बड़ी ज़िम्मेदारी महसूस करते हैं आप?

उत्तर : राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय भारत ही नहीं बल्कि विश्व का एक प्रतिष्ठित संस्थान है। ऐसे में भारत सरकार ने जब मुझे इसकी ज़िम्मेदारी सौंपी तो मेरे लिए यह सौभाग्य की बात थी। आज़ादी पूर्व औपनिवेशिक काल में हमारी नाट्य परम्परा रुक-सी गई थी, उसे इस संस्थान ने गति प्रदान की। एनएसडी प्राचीन नाट्य परम्परा और आधुनिक नाट्य परम्परा दोनों का संतुलन बनाते हुए अपने मुकाम की ओर अग्रसर है।

मैं पिछले बीस सालों से संस्कृति मन्त्रालय से जुड़ा हुआ हूँ। बतौर प्रशासक भारत और भारत के बाहर भी कई संस्थानों की सांस्कृतिक, नाट्य और सिनेमा से जुड़ी गतिविधियों में शामिल रहा हूँ। ऐसे में जब मुझे यहाँ का निदेशक बनाया गया तो मैंने इसे उपलब्धि के साथ-साथ चुनौती के रूप में भी लिया। मुझे खुशी है कि जब से मैं यहाँ हूँ, तब से एनएसडी को एक नई दिशा देने का प्रयास किया है। मुझे इसमें अभी तक सफलता और सराहना मिली है। पिछले एक साल में हमारी रिपोर्टरी



कम्पनी के पंद्रह से ज़्यादा राज्यों में शोज़ हुए हैं। हर राज्य के शो में भारी तादाद में दर्शक पहुँचे।

पिछले दिनों एनएसडी ने जो प्रस्तुतियाँ दीं उनमें 'अंधा युग' और 'लैला मजनूँ' नाटक की बड़ी चर्चा रही। राम गोपाल बजाज बतौर निदेशक इससे जुड़े। इसके बारे में बताएँ, कैसे यह योजना साकार हुई?

हमारी रिपोर्टरी कम्पनी ने पिछले दिनों जितने भी प्रोडक्शन किए उनमें ज़्यादातर मॉडर्न ड्रामा किए जा रहे थे, लेकिन मैंने उसमें एक छोटा-सा बदलाव किया। हमने कहा—जो हमारे परम्परागत नाटक हैं, लोक नाट्य हैं, उनको भी तवज्जो दिया जाना चाहिए। एक तरह से देखें तो हमने विश्व को बहुत कुछ दिया है। दुनिया में भरतमुनि से बहुत कुछ हासिल किया है। इसी कोशिश में हमने 'शाकुंतलम' किया, जिसे लोगों ने खूब सराहा।

इसके बाद मुम्बई में राम गोपाल बजाज से हमारी मुलाकात हुई। हमने उनसे अनुरोध किया कि आपके पास इतना लम्बा अनुभव है, क्यों नहीं उसका लाभ आज की पीढ़ी को मिले। तो उन्होंने इसे सहर्ष स्वीकार किया और फिर इन दोनों नाटकों का चुनाव हुआ। उन्होंने 'लैला मजनूँ' और 'अंधा युग' दोनों को नए फ़्लेवर के साथ प्रस्तुत किया। 'अंधा युग' एक ऐसा नाटक है, जो उस वक़्त भी उतना ही प्रासंगिक था, जितना कि आज है। इसी तरह आज़ादी के स्वर्ण महोत्सव शृंखला के तहत हमने 'कारगिल—एक शौर्य गाथा' भी किया और उसे भी लोगों ने खूब पसन्द किया।

आपके मुताबिक आपके आने के बाद एनएसडी का एक तरह से सांस्कृतिक जुड़ाव काफ़ी बढ़ा है। आपने विविधता पर ध्यान दिया है। एनएसडी की नई-नई गतिविधियों से लोगों के

भीतर एक क्रिस्म का सांस्कृतिक बोध बढ़ा और उसको लेकर गौरवपूर्ण अहसास हुए। क्या आपको लगता है पिछले सालों में इन मसलों पर एनएसडी में ध्यान नहीं दिया गया था?

मेरे यहाँ आने से पहले एक तो कोविड की वजह से बहुत कुछ रुका हुआ था, दूसरे कलाकारों और विद्यार्थियों को मजबूत समर्थन देने वाला कोई नहीं था। कोविड के दौर में तकरीबन सभी शिक्षण संस्थानों में एकेडमिक सेशन को पूरा करने और छात्रों की ज़रूरत को ध्यान में रखते हुए ऑनलाइन कक्षाएँ हुईं लेकिन यहाँ वैसा कुछ नहीं हुआ, उससे बहुत कुछ पिछड़-सा गया। कुल मिलाकर छात्रों, कलाकारों का बड़ा नुकसान हुआ। दो साल तक यहाँ नामांकन ही नहीं हुए। इसलिए यह कहना सही है कि मेरे आने से पहले तीन साल तक एनएसडी में बहुत कुछ ठहरा हुआ था।

ऐसे में हमने सबसे पहले गतिरोध और ठहराव को खत्म करना चाहा। इसमें हमारे चेयरमैन परेश रावल का बड़ा सहयोग मिला। एनएसडी की सोसाइटी का बहुत सहयोग मिला। हमें जो बजट मिलते हैं, उसके अलावा सरकार से 'आज़ादी का अमृत महोत्सव' के लिए दो करोड़ का सहयोग मिला। हमने स्पॉन्सरशिप बहुत ली। जैसे कि रेलवे या एयरफ़ोर्स ने हमें बुलाया तो उन्होंने ही खर्चा भी दिया। हमारी रिपर्टरी कम्पनी के शोज़ कई प्रदेशों की राजधानियों में हुए। वहाँ के संस्थानों ने हमारा समर्थन किया। जब हमने भारत रंग महोत्सव आयोजित किया तो विश्वविद्यालयों के अलावा राज्य सरकारों के साथ हमें अच्छी साझेदारी मिली। इससे हमारा बजट कम हुआ। पहले सारा खर्च हम ही करते थे लेकिन साझेदारी से फ़ायदा यह हुआ कि हमारे पार्टनर ने ही सारा खर्चा उठाया। यह हमने एक नया मॉडल अपनाया क्योंकि एनएसडी एक ब्रांड है- इसके साथ हर कोई जुड़ना चाहता है। ऐसे में हमने साझेदारी के रास्ते खोले और हमें सफलता मिली। पहले यह नहीं होता था।

इसके अलावा 'आज़ादी का अमृत महोत्सव' के तहत हमने साइबर क्राइम विषय पर 75 लोकेशन में 75 स्ट्रीट प्ले किए इसी तरह रक्तदान और सरदार वल्लभ भाई पटेल पर भी प्ले किए क्योंकि नाटक एक ऐसा सशक्त माध्यम है जिससे समाज में जागरूकता लाई जा सकती है। खास बात ये कि हम ऐसे प्ले को लेकर जहाँ-जहाँ गए, वहाँ-वहाँ से भरपूर समर्थन और सहयोग मिला। रेवेन्यू जेनेरेट हुआ। कलाकारों को काम मिला। एनएसडी की गतिविधियों में विविधता लाने की कोशिश की जो पहले नहीं थी।

इसके बावजूद हिन्दी रंगमंच को लेकर एक आम धारणा रही है कि यहाँ एक तो दर्शक कम आते हैं, दूसरे आर्थिक संकट के चलते कलाकार थिएटर छोड़कर फ़िल्मों की तरफ़ पैसे कमाने के मक़सद से चले जाते हैं। इसे कैसे पाटा जा सकता है?

आपकी बात काफ़ी हद तक सही है। हिन्दी रंगमंच आज भी कलाकारों को यह आत्मविश्वास नहीं दिला पाया कि इससे उसकी आजीविका चल सकती है। यह तथ्य हमारी विफलता है। इस देश में रंगमंच जन-जन से जुड़ा है। प्राचीन परम्परा को देखें तो हमारे रंगमंच कलाकार काफ़ी मज़बूत रहे हैं। वो जगह-जगह जाकर जनता के बीच मंचन करते थे लेकिन गुलामी के दौर में हमने अपनी परम्परा खो दी।

जब आज़ादी के बाद एनसीडी जैसी संस्थाएँ सामने आईं तो रंगमंच का प्रशिक्षण और डिग्री आदि देने की व्यवस्था तो हुई लेकिन उसके बाद कलाकार क्या करेंगे, इसके बारे में व्यवस्थित तरीक़े से नहीं सोचा गया। यह हमारी सबसे बड़ी कमी रही। इस तरह की कमियों को दूर करने के लिए वास्तव में हमें एक मज़बूत नेशनल थिएटर पॉलिसी बनाने की ज़रूरत है। एक तरह से देखें तो पूरे देश की रंगमंच की बड़ी गतिविधियाँ एनएसडी से जुड़ी हैं। देश में जितनी भी रंगमंच से जुड़ी संस्थाएँ हैं, उन्हें एनएसडी से सहयोग की बहुत उम्मीद रहती है। एक राष्ट्रीय रंगमंच नीति बनाने से रंगमंच के क्षेत्र में राज्य सरकारों की भी एक ज़िम्मेदारी तय होगी। यह काम केवल केन्द्र सरकार का नहीं है। इस नीति के तहत सभी राज्य सरकारों को भी जुड़ना होगा। पिछले दिनों में संसद की स्थाई समिति में भी हमने इस बात का जिक्र किया था। हमने प्रस्ताव रखा कि हमारी एक नेशनल थिएटर पॉलिसी होनी चाहिए। इससे कई फ़ायदे होंगे। आप देखिए कि स्पोर्ट्स को बढ़ावा देने के लिए हमने कितनी पहल की है? क्या थिएटर के कलाकारों के लिए वैसा कोई सिस्टम विकसित नहीं किया जा सकता? कहने का आशय यह कि हमें कलाकारों की आजीविका के बारे में भी फ़ोकस करना चाहिए। एनएसडी से बड़े-बड़े नाम और चेहरे निकले हैं—उन्होंने बहुत प्रसिद्धि हासिल की है लेकिन हमने यह महसूस किया है कि आज तक एक राष्ट्रीय रंगमंच नीति बनाने को लेकर कोई पहल नहीं हुई।

मैं यह नहीं मानता कि दर्शकों की कोई कमी है। ख़ूब दर्शक हैं। पिछले दिनों हमने जहाँ-जहाँ शोज़ किए, भरपूर दर्शक मिले हैं। अतिरिक्त शोज़ कराने पड़े हैं। पैसे लगाने वाले भी हमारे साथ जुड़े हैं और जुड़ना चाहते हैं। बस, रंगमंच को लेकर सांगठनिक पहल की ज़रूरत है। एक उदाहरण लीजिए फ़िल्म दर्शकों को पता है कि शुक्रवार को फ़र्लाँ फ़िल्म रिलीज़ होगी लेकिन थिएटर में ऐसा कुछ रेगुलर नहीं है। एनएसडी में पूरे साल का कैलेंडर बनाएँ तो अधिक-से-अधिक सौ शोज़ हो जाते हैं। दिल्ली के अलावा कोलकाता, मुम्बई, लखनऊ, भोपाल आदि शहरों में थिएटर होते रहते हैं—लेकिन बाक़ी जगहों पर यह रेगुलर नहीं है। मतलब ये कि जनता को इसके बारे में ठीक से कुछ पता ही नहीं होता तो इसका सिस्टम कैसे बनेगा! अगर थिएटर पॉलिसी बने या फिर एनएसडी जैसी संस्थाएँ राज्यों में भी खुलें तो इससे रंगमंच का सांगठनिक ढाँचा तैयार होगा। कलाकारों की आजीविका का आधार विकसित होगा। हमारा कहना है हर राज्य सरकार भी अपनी-अपनी रिपर्टरी कम्पनी बनाएँ। अगर राज्यों में रिपर्टरी कम्पनी बनेगी तो कुल मिलाकर चार-पाँच सौ कलाकारों को आजीविका का नियमित आधार मिलेगा। रंगमंच के माध्यम से राज्यों की परम्पराएँ संरक्षित होंगी, उनका प्रचार-प्रसार होगा और इसमें कोई बहुत बड़ा खर्च भी नहीं है। जब आप रेगुलर थिएटर करेंगे तो फ़ंड के रास्ते भी खुलते हैं।

अगर हम नाट्य-लेखन की बात करें तो आपके प्रिय नाटककार कौन-कौन हैं? रंगमंच के हिसाब से मौजूदा नाट्य-लेखन को आप किस तरह से देखते हैं, क्या कमी महसूस करते हैं?

इसमें कोई शक नहीं कि भारतेंदु हरिश्चन्द्र हमारे सबसे प्रिय नाटककार हैं। यहाँ तक कि मुंशी प्रेमचन्द की छोटी-छोटी कहानियों

को नाटक के फ़ॉर्म में पेश करें तो वह बहुत ही महत्वपूर्ण संदेश देने वाली साबित होती है। उनके बाद भी आधुनिक स्पर्धा में देखें तो बहुत अच्छे-अच्छे नाटककार हुए हैं लेकिन हमारे यहाँ आमतौर पर मूल रूप से नाटककार कम हुए हैं। अगर वो साहित्यकार हैं, कहानी-उपन्यास और कविता लिखते हैं तो साथ में नाटककार भी हैं। उस तरह से देखें तो हमारे यहाँ अलग से नाटक-लेखन का कोई मूवमेंट नहीं देखने को मिला। उसकी बड़ी वजह ये है कि हमारे पास कोई फ़ॉर्मल प्ले राइटिंग की व्यवस्था नहीं है। मेरी जानकारी में किसी भी विश्वविद्यालय या संस्थान में प्ले राइटिंग का प्रशिक्षण नहीं दिया जाता है। यह एक बड़ी कमी है जबकि प्ले राइटिंग एक कला है, उसमें भी स्किल की ज़रूरत है। इस सिलसिले में एनएसडी ने एक कमेटी बनाई है। यह कमेटी आने वाले समय में कुछ नए पाठ्यक्रमों को लेकर विचार-विमर्श करने वाली है, उसमें प्ले राइटिंग कोर्स का भी प्रस्ताव है। इससे कुछ अच्छे और नए प्ले राइटर्स भी सामने आएँगे। प्ले राइटिंग को प्रोफ़ेशनल बनाने की ज़रूरत है।

आप देखिए कि नाटक की पुस्तकों के कितने ख़रीददार होते हैं! कहानी, उपन्यास की पुस्तकें तो बिक भी जाती हैं लेकिन नाटक की पुस्तकें नहीं बिकतीं। हमारे पास नाटकों की पुस्तकों का कोई डाटाबेस भी नहीं है। तो राष्ट्रीय और प्रादेशिक स्तर पर नाटकों की पुस्तकों का एक डाटाबेस भी बनना चाहिए। उनका अनुवाद भी हो ताकि ज़रूरत के मुताबिक सच किया जा सके। मुझे लगता है इन सबकी सख़्त ज़रूरत है। हमारा प्रयास होगा कि आने वाले समय में हम इन प्रस्तावों को अमली जामा पहनाएँ ताकि नई पीढ़ी को अपने बेहतर कैरियर के लिए थिएटर फ़ील्ड का चुनाव करने में कोई संकोच न हो और न बाद में उन्हें निराशा हाथ लगे।

हिन्दी रंगमंच का विचारधारा से भी ख़ास रिश्ता रहा है। पारसी थिएटर, इप्ता वगैरह का एक सोच के साथ जुड़ाव रहा है। आप मानते हैं कि थिएटर का किसी विचारधारा से कोई सम्बन्ध होना चाहिए? इसके क्या सुपरिणाम और दुष्परिणाम आप देखते हैं?

संस्कृति, शिक्षा और इतिहास किसी भी देश की एक रीढ़ होती है। मेरा हमेशा से मानना रहा है कि इसमें विचारधारा की कोई भूमिका नहीं है। इसमें जो सच है, उसे आना चाहिए। हमें हमेशा इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि भारत का इतिहास कोई सौ, दो सौ साल का इतिहास नहीं है, यह हजारों साल पुराना है। हम केवल यह न सोचें कि मुगलकाल और अंग्रेज़ों के समय में जो हुआ, केवल वही इतिहास है। हमें बिना किसी के प्रभाव में आए अपनी सांस्कृतिक धरोहरों के बारे में सोचना चाहिए। प्राचीन साहित्य, इतिहास, संस्कृति भारत की ताकत है। आज भी हमारे पास एक करोड़ से ज़्यादा मैनुस्क्रिप्ट हैं और वहीं पूरे विश्व की मैनुस्क्रिप्ट को मिला दें तो वह एक करोड़ भी नहीं होगी। हमारी मैनुस्क्रिप्ट एक करोड़ तब है जब बहुत सारी जला दी गईं और बाहर ले जाई गईं। इससे यह साबित होता है कि हमारा साहित्य और हमारी ज्ञान परम्परा कितनी सुदृढ़ थी! मेरा साफ़ मानना है कि जब भी कोई इनवेज़न (आक्रमण) होता है तो वह सबसे पहले हमारी शिक्षा, संस्कृति और इतिहास के ऊपर हमला करता है। वह चाहता है कि आप

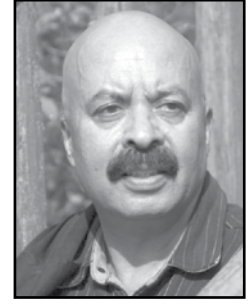
अपना छोड़कर उनका ग्रहण करें—वह चाहे मुगल रहे या अंग्रेज़। वो बहुत सारी चीज़ों को बदलने की कोशिश करता है।

आज का जो पाठक है, वह उसे सच मानकर चलता है जिसे कोई आज का व्यक्ति कहता है लेकिन क्या वह सच है? मैं इसमें किसी राजनीतिक विचारधारा की बात नहीं कर रहा बल्कि एक स्वतन्त्र रिसर्चर की भाँति बात कर रहा हूँ। हमने सबसे बड़ी कमी यह महसूस की है कि किसी ख़ास काल को लेकर विदेशियों ने जो लिखा, उसे ही सच मान लिया गया। हमने उसे वेरिफ़ाई करने की कोशिश नहीं की।

इन दिनों सिनेमा को लेकर कई तरह के विचार सामने आ रहे हैं। किसी को सिनेमा पसन्द है, किसी को नहीं बल्कि उसके खिलाफ़ अभियान भी चलते हैं। लिहाज़ा सिनेमा एक नए क्रिस्म के संकट का सामना कर रहा है। क्या ऐसे दौर में रंगमंच के सामने विशेष स्पेस बनाने का मौक़ा नहीं है? रंगमंच को इसका कैसे फ़ायदा उठाना चाहिए?

आपका यह सवाल बहुत अच्छा है और बहुत महत्वपूर्ण भी। इसमें कोई दो राय नहीं कि आधुनिक सिनेमा बहुत ज़्यादा व्यावसायिक हो गया है। इसमें पैसे बहुत हावी हो गए हैं। मास पर इंपैक्ट डालने के लिए ग्लैमर और पैसे का भरपूर उपयोग किया जाता है। इसलिए मुझे आज का सिनेमा पूरी तरह से दिशाहीन लगता है। पहले के निदेशक और लेखक जो फ़िल्में बनाते थे, कहानी सामने रखते थे, उनमें मनोरंजन के साथ-साथ कोई-न-कोई संदेश भी होता था। उनका प्रयास दिल को छूता था। अब पश्चिम की नक़ल करके जल्दी से मोटा पैसा बनाने की होड़ ज़्यादा दिखती है। इसके अलावा ओटीटी ने और भी बहुत बिगाड़ दिया। वहाँ का कंटेंट नियन्त्रित ही नहीं है। उन्हें देखकर बहुत शर्मिंदगी होती है।

इसलिए आपका सवाल सही है कि ऐसी स्थिति में रंगमंच के लिए एक बहुत बड़ा अवसर है क्योंकि लोग सिनेमा से वाकई ऊब चुके हैं। पिछले दिनों जब हमने एयरफ़ोर्स के लिए 'ताजमहल का टेंडर' नाटक किया तो वहाँ का माहौल देखते ही बनता था। वे काफ़ी प्रसन्न थे। इससे लगा कि लोग कुछ नया और सार्थक देखना चाहते हैं। हर परिवार चाहता है कि उसके बच्चों को वैल्यू एडिशन मिले। इसलिए मुझे लगता है आज के दौर में अगर हम रंगमंच को और बढ़ावा दें तो इसके ज़रिए जन-जन तक जागरूकता फैलाई जा सकती है। स्कूल, कॉलेज और ग्रामीण क्षेत्रों में रंग-मंच करने की ज़रूरत है। गाँव-गाँव में रंगमंच को लेकर जाएँ तो इससे वहाँ का वातावरण बदलेगा, वहाँ हमें नए दर्शक वर्ग ही नहीं बल्कि नए-नए कलाकार भी मिलेंगे। आज के दौर में रंगमंच की प्रासंगिकता पहले से कहीं ज़्यादा बढ़ गई है। छोटे शहरों और गाँव में सिनेमा हॉल नहीं हैं। वहाँ तक रंगमंच को जन-जागरूकता अभियान से जोड़ा जा सकता है। इसे सरकारी कल्याणकारी योजनाओं के प्रचार-प्रसार से भी जोड़ा जा सकता है। केवल केन्द्र सरकार नहीं, बल्कि राज्य सरकारें भी इसे अपनाएँ। इससे कलाकारों को नया काम मिलेगा और दर्शक वर्ग को भी नए क्रिस्म का मनोरंजन मिलेगा, उन तक जागरूकता का संदेश पहुँचेगा। सिनेमा से उनकी ऊब दूर होगी। इस तरह रंगमंच का राष्ट्रीय स्तर पर विकास होगा। □



रंगमंच विधाएँ : करियर की सम्भावनाएँ

दानिश इकबाल

भारतीय थिएटर हमारी एक बहुमूल्य और महत्वपूर्ण सांस्कृतिक धरोहर है, जो भिन्न-भिन्न राज्यों और क्षेत्रों की विविधता के कलात्मक समन्वय द्वारा प्रदर्शन-कला और सम्बन्धित गतिविधियों के सम्पूर्ण परिदृश्य को सजाती, सँवारती और रंगारंग बनाती है और शायद इसीलिए 'रंगमंच' कहलाती है। थिएटर के लिए नाटक, नृत्य और संगीत, कला की एक ही इकाई बन जाते हैं और इसी प्रसंग से हमें राष्ट्रीय प्रतिभा का अद्भुत प्रदर्शन विभिन्न सांस्कृतिक रूपों में काफ़ी विस्तार से देखने को मिलता है। हमारे देश में अनगिनत नाटकीय शैलियाँ हैं जो सौन्दर्यगत आकर्षण और कलात्मक रोचकता की दृष्टि से काफ़ी समृद्ध हैं। हमारा कोई उत्सव हो, कोई त्योहार हो, नाटकीय प्रस्तुति को जगह मिल ही जाती है। इस प्रदर्शन में गीत, नृत्य, पुराण-प्रसंग और कथा तथा साहित्य एक-दूसरे से जुड़ कर एक इकाई बन जाते हैं और सार्वजनिक जीवन और उसकी चेतना के विभिन्न अंग हमें दिखाते हैं।

करियर और कला का संगम-पेशेवर थिएटर : दूसरे सभी क्षेत्रों की तरह भारतीय थिएटर भी कई तरह के बदलाव और चुनौतियों का सामना कर रहा है। आज का थिएटर वह नहीं है जो कोविड से पहले के समय में हुआ करता था। परिवर्तनों के इस पतझड़ में, अगर रंगमंच को बदलते समय के साथ अपना वजूद बचाए रखना है और नए रास्तों का चयन करना है तो उसे टेक्नोलॉजी विकास और समकालीन तकनीकों के साथ क़दम-से-क़दम मिलाकर चलना ही होगा। सारी तब्दीलियों के बावजूद, अपनी आत्मा की पहचान को केन्द्र में रखते हुए अपने बाहरी स्वरूप को आधुनिक बनाना और निरन्तर नए मार्ग प्रशस्त करना भी थिएटर से जुड़े लोगों की एक अहम ज़िम्मेदारी है। यह भी देखने में आता है कि नई सहस्राब्दी में जन्म लेने वाले कलाकार और पदों के पीछे रहने वाले तकनीशियन, नई तकनीक के नए-नए रास्तों से जुड़ी उपयोगी सहूलतों के इस्तेमाल में इंजीनियरों, डॉक्टरों आदि से पीछे नहीं हैं। कोविड की महामारी ने पुरानी पीढ़ी को भी जिस तरह इंटरनेट के इस्तेमाल के लिए मजबूर किया, उसने भी परिवर्तन की रफ़्तार को बढ़ाया है। नई पीढ़ी के लोग इंस्टाग्राम से लेकर आर्टीफ़ीशियल इंटेलिजेन्स तक हर तरह की आधुनिक तकनीकी एवं अवसरों का उपयोग करने के लिए तत्पर रहते

हैं। आजकल, इंटरनेट और डिजिटल प्लेटफ़ॉर्मों के ज़रिए भी थिएटर की प्रस्तुतियों की सूचना दर्शकों तक पहुँचाई जा रही है, जिससे नाटकों की लोकप्रियता और पहुँच और भी बढ़ रही है। विश्वविद्यालयों और सांस्कृतिक संस्थानों में थिएटर शिक्षा के प्रोग्राम भी चलाए जा रहे हैं, जो छात्रों को एक नए संभावित करियर का मार्ग प्रदान करते हैं।

इसी इन्फार्मेशन एंड कम्युनिकेशन टेक्नोलॉजी आई.सी.टी. से जुड़े विकास के माध्यम से, थिएटर की नई पीढ़ी को एक बड़े सांस्कृतिक और कलात्मक बिज़नेस इको-सिस्टम से सामंजस्य बैठाने का अवसर खुलकर मिल रहा है जिसमें फ़िल्म और टीवी धारावाहिकों के काम-काज से लेकर सी.एस.आर. और एडवर्टाईज़िंग की फ़्रीलान्स दुनिया भी शामिल है। वास्तव में, बड़ी संख्या में फ़िल्म और टीवी कलाकार भी अपनी शुरुआत थिएटर से करते रहे हैं और आज भी थिएटर के माध्यम से वे अपने अभिनय-कौशल को मज़बूत बनाते हैं। यानी थिएटर एक प्रशिक्षण इको-सिस्टम के रूप में भी काम करता है जहाँ कलाकार अपने अभिनय, संवाद-शैली और अभिव्यक्ति आदि को और बेहतर बनाने का अवसर प्राप्त करते हैं लेकिन यह सब तभी मुमकिन है जब थिएटर को प्रोफ़ेशनल ढंग से और बाकायदा प्रशिक्षण के साथ किया जाए। तभी किसी नवोदित कलाकार के लिए तीन-चार साल के अंदर-अंदर पेशेवर फ़्रीलान्स बन पाना संभव हो पाता है और इस तरह थिएटर से लेकर फ़िल्मों और टीवी शोज़ में कलाकार अपना स्थान बना पाता है। इस परिदृश्य में देखते हैं कि थिएटर से जुड़े कितनी तरह के करियर्स हैं जो नए लोग प्रशिक्षण के बाद व्यावसायिक तौर पर शुरू कर सकते हैं और इसके बाद हम यह भी देखेंगे कि वह कौन-कौन से संस्थान हैं जो इस समय सबसे अच्छे प्रशिक्षण के लिए जाने जाते हैं।

अभिनय और अभिनेता : जैसे ही हम थिएटर से जुड़े करियर्स की बात सोचते हैं तो हमारे मन में पहला विचार अभिनेताओं और अभिनेत्रियों का ही आता है क्योंकि किसी भी प्रस्तुति का वह चेहरा होते हैं, बल्कि पहचान भी कहे जा सकते हैं। वास्तव में अभिनेता ही थिएटर के हृदय और आत्मा की भूमिका निभाते हैं। वो पात्रों को जीवन देते हैं, भावनाओं को अभिव्यक्ति देते हैं और अपनी कला के माध्यम से दर्शकों तक कहानी को

पहुँचाने का काम करते हैं। चाहे वह कथकली, भरतनाट्यम या यक्षगान जैसी पारम्परिक दक्षिण भारतीय थिएटर शैलियाँ हों या समकालीन नाटक हों, अभिनेता ही दर्शकों तक संवाद और आकर्षित करने और जोड़े रखने का मुख्य काम करते हैं। पहले लोग कहा करते थे कि कलाकार पैदा होते हैं, बनाए नहीं जाते लेकिन आज हम सभी जानते हैं कि यह एक प्रोफेशनल काम है जिसके लिए कठिन परिश्रम और रियाज की जरूरत होती है। जाहिर है कि कलाकार बनने के लिए अभिनय की शिक्षा एक महत्वपूर्ण और पहला कदम है।

अगर किसी को सीमित समय के अंदर इस कला को सीखना है, नाटकीय कला की तकनीकों, शरीर की भाषा, आवाज के आरोह-अवरोह और पात्र विश्लेषण तथा पात्र को आत्मसात करने का ज्ञान प्राप्त करना है, तो एक ही रास्ता है कि वह थिएटर के विशेष विद्यालयों या संस्थानों से फार्मल शिक्षा प्राप्त करे। अपने अभिनय कौशल को विकसित करने के लिए, उसे और अच्छा बनाने के लिए, विभिन्न नाटकों में भाग लेना और विभिन्न संस्थानों तथा संगठनों द्वारा आयोजित किए गए प्रदर्शनों में हिस्सा लेना महत्वपूर्ण होता है। किसी भी कलाकार का जीवन चुनौतीपूर्ण होता है, जिसमें अभिलेखों, उनकी पुनरावृत्तियों के गहरे अध्ययन के अलावा, प्रस्तुतियों की बारीकियों की समझ और एक कलाकार के रूप में मानसिक तथा आर्थिक स्थिरता की तलाश मृगतृष्णा बनकर सामने आती है।

निर्देशक : नाटकीय प्रस्तुतियों की सम्पूर्ण संरचना, प्रारूप और उसके निष्पादन के लिए निर्देशक ही जिम्मेदार होते हैं। वो अभिनेताओं, सेट डिजाइनर्स, कॉस्ट्यूम डिजाइनर्स और अन्य रचनात्मक पेशेवरों के साथ मिलकर नाटकीय प्रस्तुति को जीवन्त बनाने का काम करते हैं। उनका उद्देश्य दर्शकों को एक संवाद के माध्यम से कहानी की मूल अभिव्यक्ति से जोड़ना होता है। वे नाटकीय प्रस्तुतियों की स्क्रिप्ट का चयन, सामूहिक पाठन और व्याख्यान करते हैं, दृश्यों को ब्लॉक करते हैं, अभिनेता के अभिनय प्रदर्शन का मार्गदर्शन करते हैं और लाइटिंग, ध्वनि और सेट डिजाइन के बारे में फैसले करते हैं। सफल निर्देशकों को कला फॉर्म के गहन ज्ञान, पैनी निगाह और प्रभावी नेतृत्व कौशल प्राप्त होते हैं।

पटकथा लेखक : अभिनेताओं और निर्देशकों के बाद सबसे महत्वपूर्ण काम नाटककार या पटकथा-लेखक का समझा जाता है। मूल रूप से नाट्य-लेखन एक कला और सृजनात्मक प्रक्रिया है जिसमें ड्रामा या प्ले की कहानी से लेकर आलेख तक के प्रारूप को किसी विषय या विचार की रौशनी में रचा जाता है या किसी दूसरी रचना से रूपान्तरित किया जाता है। यह एक साहित्यिक कला है जिसमें लेखक अपनी कल्पना और भावनाओं को विभिन्न चरित्रों और पात्रों के माध्यम से प्रकट करता है, विशेषतः नृत्य, भाव और भाषा आदि का प्रयोग करके मंचन के योग्य एक कहानी तैयार करने की जिम्मेदारी निभाता है। नाटककार के लेखन का उद्देश्य व्यक्ति और समाज के संवाद में मौलिक विचारों और विषयों को सामने लाना होता है। एक अच्छा नाट्य-लेखक कला, विचार और भावना के सम्मिश्रण से अपने दर्शकों को सोचने और विचार करने के लिए प्रेरित करता है, साथ ही सामाजिक और मानसिक बदलाव के पक्ष में उत्साह भी जगाता है। अच्छे नाटककार ऐसे रचनात्मक दिमाग होते हैं, जो पुराण, इतिहास, सामाजिक सरोकारों, व्यक्तिगत अनुभवों या समकालीन विषयों से प्रेरणा लेते हैं और परिवर्तनशील नाटकों की रचना करते हैं।

सेट और कॉस्ट्यूम डिजाइनर : सेट और कॉस्ट्यूम डिजाइनर एक नाटकीय प्रस्तुति के दृश्यांशों को बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। सेट बनाने वाले लोग रचनात्मकता और कला की अनेक सम्भावनाओं और भावों का उपयोग कर सेट, पीछे की पृष्ठभूमि और सम्बंधित सामग्री

डिजाइन करते हैं, जो कहानी को पेश करने में बड़ी भूमिका निभाते हैं और नाटकीय प्रस्तुति की सार्थकता में योगदान देते हैं। इंडियन थिएटर की विविधता सेट और कॉस्ट्यूम के क्षेत्र में ज्यादा खुलकर सामने आती है, जिसमें पारम्परिक रूप से शानदार और रंगीन डिजाइन शामिल होते हैं। सेट और कॉस्ट्यूम डिजाइनर अक्सर निर्देशकों के साथ मिलकर किसी टीम की तरह काम करते हैं, जिससे नवाचार के दृष्टिकोण और नाटक के विषयवस्तु के तत्त्व ज्यादा बेहतर तौर पर सामने आते हैं।

लाइटिंग डिजाइनर : लाइटिंग डिजाइनर लाइटिंग तकनीक और उपकरण के माध्यम से नाटकीय प्रस्तुति के मूड और वातावरण को सेट करने के लिए जिम्मेदार होते हैं। वे निर्देशकों और सेट डिजाइनरों के साथ मिलकर विभिन्न प्रकार के लाइटिंग प्रभावों को बनाने का काम करते हैं, जो स्टेज के दृश्यात्मक आकर्षण को बढ़ाते हैं और प्रस्तुति के दौरान दर्शकों का ध्यान खींचते हैं। भारतीय थिएटर में लाइटिंग का व्यापक उपयोग मनचाही भावनाएँ प्रस्तुत करने, बैक-ड्रॉप बदलने और नाटक में नाटकीय प्रभाव बनाने के लिए किया जाता है। अनुभवी लाइटिंग डिजाइनर तकनीकी विशेषज्ञता और कलात्मक रचनात्मकता के माध्यम से दर्शकों पर प्रभाव डालने में सहायता करते हैं।

साउंड डिजाइनर/संगीतकार : साउंड डिजाइनर और संगीतकार प्रस्तुति के ऑडियो तत्वों को बढ़ाने, सजाने, सँवारने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। वे अपना मूल संगीत बनाते हैं, उपयुक्त ध्वनि प्रभाव का चयन करते हैं और सुन्दर प्रस्तुति के लिए ऑडिटोरी अनुभव प्रदान करने का काम करते हैं। पारम्परिक भारतीय थिएटर में संगीत की अहम भूमिका होती है और नई व रूपांतरित प्रस्तुतियों में भी आमतौर पर लाइव संगीत और कई तरह के साज़ों का उपयोग किया जाता है, जो किसी प्रस्तुति को सांस्कृतिक समृद्धि और गहराई देता है। समकालीन थिएटर में, साउंड डिजाइनर विभिन्न शैलियों का प्रयोग कर प्रस्तुति के विशेष साउंडस्केप को बनाने के लिए नवीनतम तकनीक और नवाचारी तरीके का प्रयोग करते हैं।

नृत्य निर्देशक (कोरियोग्राफर) : भारतीय थिएटर में, खासकर इसकी पारम्परिक शैलियों जैसे कथकली, भरतनाट्यम, कुचिपुड़ी या मणिपुरी नृत्य-नाटकों में, कोरियोग्राफर या नृत्य निर्देशक का महत्वपूर्ण स्थान और योगदान होता है। ये नृत्य-नाटक शैलियाँ भारत की पुरातन संस्कृति में गहरी जड़ें रखती हैं, जो गतिविधियों और कलात्मक अभिव्यक्ति के माध्यम से कहानियों को सुनाती हैं, जिसके लिए कलाकारों और कोरियोग्राफरों को श्रेष्ठ कौशल और विशेष समर्पण की आवश्यकता होती है। कोरियोग्राफर्स निर्देशकों और नाटककारों के साथ मिलकर नृत्य अनुष्ठानों को बनाने के लिए सहयोग करते हैं और इस तरह कथा से सम्बन्धित भावनाओं और मूल सांस्कृतिक धरोहर की पुनरावृत्ति करते हैं।

मेकअप आर्टिस्ट : मेकअप आर्टिस्ट कलाकारों को आवश्यकतानुसार पात्रों में बदलने के लिए पर्दे के पीछे काम करते हैं, खासकर पारम्परिक थिएटर की प्रस्तुतियों में, जहाँ विशेष रूप से निर्दिष्ट भूमिकाओं को प्रदर्शित करने के लिए मेकअप बहुत अहम होता है। भारतीय क्लासिकल थिएटर शैलियों, जैसेकि कथकली में प्रतिभागियों को कई घंटों लम्बा मेकअप कराया जाता है और महीनों की मेहनत के बाद तैयार की गई रंगीन पोशाकों का उपयोग किया जाता है ताकि पुराण और इतिहास से जुड़े किसी विशिष्ट चरित्र को दर्शाना संभव हो सके। मेकअप आर्टिस्ट के पास अभिव्यक्ति को प्रमुखता से उभारने, पात्र गुणों पर जोर देने और प्रस्तुति की परम्परागत भूमिकाओं के लिए विशेष तकनीकों के इस्तेमाल की विशेषज्ञता होती है। उनकी कला पात्रों को गहराई और विश्वसनीयता

प्रदान करती है, जिससे उन्हें स्टेज पर जीवन्त करना मुमकिन हो पाता है।

थिएटर्स से जुड़े अन्य कैरियर्स : नाटक-शिक्षक भविष्य के नाटक कलाकारों की शिक्षा प्रशिक्षण और उनकी प्रतिभा को आकार देने की महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। वह रंगमंच के सिद्धांत और प्रैक्टिस के प्रशिक्षण के द्वारा प्रस्तुति की सजीव रूपरेखा बनाना सिखाते हैं। संवाद और मौन के अर्थ भावी अभिनेताओं, नाटककारों और अन्य रचनात्मक पेशेवरों को सिखाते हैं और उन्हें थिएटर में अपने कौशल को सुधारने, अच्छा बनाने के लिए प्रोत्साहित करते हैं। नाटक शिक्षकों का मुख्य उद्देश्य अभिनेताओं को नए-पुराने नाटक रूपों, अभिनय की तकनीकों, भावनाओं और व्यक्तिगत अनुभवों को समझाने-समझने में मदद करना होता है। इस तरह के प्रशिक्षण से अभिनेता अपने कौशल में सुधार करते हैं और उन्हें संवेदनशीलता, सहभागिता और टीमवर्किंग कौशल विकसित करने में भी अच्छे शिक्षक से मदद मिलती है।

इनके अलावा थिएटर प्रशासक या निर्माता यानी प्रोड्यूसर थिएटर के व्यावसायिक पहलू को सम्भालते हैं। वो वित्त प्रबंधन करते हैं, वित्त प्राप्त करते हैं, लॉजिस्टिक की व्यवस्था करते हैं और थिएटर कम्पनियों और प्रदर्शनों के सहज कामकाज को सुनिश्चित करते हैं। थिएटर प्रशासक पीछे की ओर रहकर काम करते हैं ताकि सब कुछ सहज तरीके से चल सके। रिहर्सल संगठित करने से लेकर प्रदर्शनों के प्रमोशन और बजट प्रबंधन तक के उनके काम हैं।

थिएटर समीक्षक / पत्रकार : थिएटर समीक्षक और पत्रकार थिएटर की समीक्षा और सराहना में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। वे प्रदर्शनों को देखते हैं, विश्लेषण करते हैं, समीक्षा, साक्षात्कार और लेख लिखते हैं जो थिएटर प्रदर्शनों को प्रोत्साहित करते हैं। उनके दृष्टिकोण और राय दर्शकों की धारणाओं को प्रभावित करते हैं और भारतीय थिएटर के परिप्रेक्ष्य की बहुमुखी चर्चा में योगदान करते हैं। थिएटर समीक्षकों की निर्माणात्मक प्रतिक्रिया कलाकारों के लिए मूल्यवान है और उन्हें उनके कौशल सुधार में मदद कर सकती है।

इनके साथ-साथ कठपुतली कलाकार, सुधार समन्वयक, नुक्कड़ नाटक संयोजक के अलावा सामुदायिक थिएटर कार्यकर्ता गाँवों से शहरी मोहल्लों तक, सामाजिक परिवर्तन और सशक्तीकरण के लिए थिएटर को एक उपकरण के रूप में उपयोग करते हैं। थिएटर शोधकर्ता और इतिहासकार भारतीय थिएटर की विरासत का अध्ययन करने और संरक्षित करने के काम में लगे हैं। ये लोग भारतीय थिएटर के सन्दर्भ में कई शताब्दियों के विकास की दस्तावेजीकरण करते हैं। थिएटर महोत्सव आयोजक पूरे साल भर में स्थानीय, राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय स्तर के विभिन्न थिएटर महोत्सव आयोजित करते हैं और क्यूरेट करने, थिएटर ग्रुप्स और कलाकारों को आमन्त्रित करने, लॉजिस्टिक की व्यवस्था करने और इन आयोजनों के लिए पैसा जमा करने जैसा महत्वपूर्ण काम करते हैं।

संस्थागत प्रशिक्षण : थिएटर को नए दिशा-निर्देश देने का मूलमन्त्र कला, मनोरंजन और नाटक के क्षेत्र में संस्थागत प्रशिक्षण का काफ़ी महत्व है, जो कलाकारों को उनके कला क्षेत्र में एक आदर्श दर्जे तक पहुँचाने में मदद करता है। औपचारिक प्रशिक्षण का यह अद्वितीय माध्यम न केवल साहित्यिक और व्यावसायिक ज्ञान की प्राप्ति करने का साधन होता है, बल्कि यह कलाकारों को स्थानीय स्तर से बाहर निकालकर और बड़े मंच पर उनकी कला को प्रस्तुत करने का साहस भी प्रदान करता है। विश्वविद्यालय स्तर पर स्नातकोत्तर थिएटर प्रशिक्षण ने थिएटर के व्यावसायिक क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है, जहाँ कलाकार न केवल अपनी कला-श्रेष्ठता को प्रदर्शित करने की शुरुआत

करते हैं, बल्कि सामाजिक और सांस्कृतिक मुद्दों की समझ-बूझ भी उजागर करते हैं।

सार्वजनिक क्षेत्र के संस्थान और नाट्य विद्यालय पेशेवर रंगकर्मियों के लिए विशेष प्रशिक्षण अवसर प्रदान करते हैं। उनमें से प्रमुख निम्नलिखित हैं :

राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय (एनएसडी), नई दिल्ली, भारत के प्रमुख थिएटर प्रशिक्षण संस्थानों में से एक है। यहाँ तीन-वर्षीय डिप्लोमा पाठ्यक्रम प्रदान किया जाता है जिसमें अभिनय के विभिन्न पहलुओं जैसेकि आवाज़, उच्चारण, शारीरिक भाषा, पात्र विश्लेषण और स्टेजक्राफ़्ट आदि शामिल हैं।

जामिया मिल्लिया इस्लामिया, नई दिल्ली, एजेके मास कम्यूनिकेशन रिसर्च सेंटर में कई दूसरे पाठ्यक्रम के साथ एक पोस्ट ग्रेजुएट डिप्लोमा अभिनय कौशल सिखाने का प्रदान किया जाता है जिस में अभिनय तकनीकों, आवर्तन, नृत्य, भाव-मंजिमा, पात्र चित्रण और स्क्रिप्ट विश्लेषण आदि में व्यापक प्रशिक्षण प्रदान किया जाता है।

भारतेन्दु नाट्य एकेडमी (बीएनए), लखनऊ, भारत के पुराने नाटक विद्यालयों में से एक है। यह विभिन्न डिप्लोमा और प्रमाणपत्र पाठ्यक्रम प्रदान करता है जिनमें अभिनय के क्लासिकल और समकालीन थिएटर रूपों पर ध्यान केन्द्रित होता है।

फ़िल्म और टेलीविज़न इंस्टीट्यूट ऑफ़ इंडिया (एफ़टीआईआई), पुणे और सत्यजित रे फ़िल्म और टेलीविज़न इंस्टीट्यूट (एसआरएफ़टीआई), कोलकाता, एक पोस्ट-ग्रेजुएट डिप्लोमा पाठ्यक्रम प्रदान करता है जो निर्देशन के विभिन्न पहलुओं पर ध्यान केन्द्रित करता है।

सार्वजनिक संस्थानों के अलावा, भारत में कई प्रसिद्ध नाटक रेपर्टी कम्पनियाँ, जैसेकि बैंगलोर में रंगशंकरा, मुम्बई में पृथ्वी थिएटर और एनएसडी की रेपर्टी कम्पनी, निर्देशकों के लिए कार्यशालाएँ और कार्यक्रमों का आयोजन करती हैं। ये अवसर उम्मीदवार निर्देशकों को अनुभवी व्यावसायिकों के साथ करीबी तौर पर काम करने और निर्देशन के तत्त्वों की व्यावसायिक पहलुओं की सीख से अवगत कराते हैं।

मुम्बई विश्वविद्यालय स्नातकोत्तर में थिएटर आर्ट्स प्रदान करता है, जिसमें अभिनय, निर्देशन और थिएटर उत्पादन में उन्नत प्रशिक्षण प्रदान किया जाता है। इसी तरह रवींद्र भारती विश्वविद्यालय, कोलकाता, स्नातक और स्नातकोत्तर ड्रामा के लिए प्रदान करता है, जिसमें अभिनय और प्रदर्शन कलाओं पर विशेष ध्यान केन्द्रित किया है। हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय के परफ़ॉर्मिंग आर्ट्स विभाग में नाटक और फ़िल्म अध्ययन में पाठ्यक्रम प्रदान करते हैं, जिसमें अभिनय, नाटक लेखन और थिएटर उत्पादन में प्रशिक्षण दिया जाता है।

महाराजा सयाजीराव यूनिवर्सिटी, बड़ौदा ड्रामा और ड्रामेटिक्स में स्नातकोत्तर प्रदान करता है। भारतीय विद्या भवन, मुम्बई एक वर्ष का थिएटर निर्देशन डिप्लोमा प्रदान करता है, जिसमें निर्देशन तकनीकों और स्टेजक्राफ़्ट में उम्मीदवार निर्देशकों को मज़बूत आधार प्रदान किया जाता है।

ये सभी संस्थान और नाटक विद्यालय थिएटर प्रतिभाओं के लिए प्रशिक्षण और प्रदर्शन के माध्यम से व्यावसायिक अनुभव, विभिन्न थिएटर शैलियों के परिचय और अनुभवी व्यावसायिकों के साथ सहयोग के अवसर प्रदान करते हैं। इन विशेष पाठ्यक्रमों और कार्यक्रमों के माध्यम से कलाकार अपनी प्रतिभा को विकसित करते हैं, भारतीय थिएटर की समझ को गहराई से बढ़ा रहे हैं और प्रशस्त पेशेवर स्तर पर स्टेज पर अपने कैरियर का शुभारम्भ करते हैं। □

ऐतिहासिक नाटकों...

पृष्ठ 12 से आगे

रामवृक्ष बेनीपुरी ने अपने ऐतिहासिक नाटकों को आधुनिक सन्दर्भ देकर उन्हें समसामयिक बना दिया है। अपने नाटकों की भूमिका में वे इसकी घोषणा भी करते हैं। इसके लिए उन्होंने न केवल चरित्रों को बदला है, अपितु भाषा भी बदली है। ऐतिहासिक नाटकों में संस्कृतनिष्ठ तत्सम शब्दों के प्रयोग की जो परिपाटी चली आ रही थी, उसे रामवृक्ष बेनीपुरी 'नाही', 'घर-घूसन' आदि ठेठ भोजपुरी के शब्दों के प्रयोग द्वारा तोड़ते दिखाई देते हैं। रामवृक्ष बेनीपुरी ने अपने नाटकों को भरसक मंच के योग्य बनाने का प्रयास किया है। 'अम्बपाली' कुल चार अंकों में विभक्त है। इसमें कुल नौ पुरुष पात्र और पाँच स्त्री पात्र हैं। 'तथागत' पाँच अंकों विभाजित है। इन अंकों के शीर्षक दिए गए हैं- अंतिम शृंगार,

सुजाता की खीर, बहुजन हिताय बहुजन सुखाय, विरोध और विजय, महापरिनिर्वाण। इसमें कुल बारह पुरुष पात्र और आठ स्त्री पात्र हैं। इसका सर्वोत्तम प्रयास 'विजेता' नाटक में दिखाई देता है। यह नाटक पाँच अंकों का है और प्रत्येक अंक में एक ही दृश्य है। इसमें पात्र भी केवल पाँच ही हैं—तीन पुरुष और दो स्त्री।

रामवृक्ष बेनीपुरी ने ऐतिहासिक-पौराणिक कथाओं के माध्यम से सामयिक विसंगतियों और समस्याओं को न केवल उठाया है, उनसे मुठभेड़ भी की है। इन ऐतिहासिक पात्रों के माध्यम से स्त्री प्रश्नों को उठाया गया है। वर्तमान के स्त्री मुद्दों को भी इसमें देखा जा सकता है। □

पणिक्कर की रंगदृष्टि...

पृष्ठ 14 से आगे

उन्होंने प्रयोग किया है? उसकी प्रगतिशीलता या प्रतिगामिता का? हम पाते हैं कि केरल के लोकरंग में शास्त्रीयता और लोकभावना बहुत ही मिली-जुली है जिसे कुडियट्टम, कथकली और अन्य पारम्परिक नृत्य और नाट्य कलाओं में देखा जा सकता है। इसके बावजूद लोकरंग का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व होता है। 'थय्यम' के अलावा भी अनेक लोकरूप वहाँ बचे हुए हैं। पणिक्कर का मानना है कि, "यथार्थवादी शैली हमारी नहीं है, हमारा यथार्थवाद भी पश्चिम से भिन्न है।" उनका यही दृष्टिकोण उन्हें भारतीय क्लासिक और लोकरंग की ओर ले जाता है और पश्चिमी यथार्थ की प्रतिक्रिया में पणिक्कर अपनी समस्त सृजनात्मकता और कल्पनाशीलता को वेद और नाट्य वेद के अप्रासंगिक प्रसंगों एवं तकनीक को सही साबित करने में लगा देते हैं। भास के क्लासिक नाटक सदियों पुराने एक ढाँचे में फिट हैं लेकिन वर्तमान लोक रंगमंच असीमित और प्रवाहमान है, इसमें थय्यम जैसी रूढ़ि है तो समायानुकूल सामाजिक, राजनैतिक निहितार्थ भी। भास सहित संस्कृत साहित्य को

18वीं, 19वीं सदी में पुनरुत्थान और स्वर्णिम अतीत के गौरव गान के आधार पर व्याख्या करना संकीर्णता का सूचक है और इस भाव दृष्टि परम्परा ने क्रमशः पणिक्कर के सेकुलर और तार्किक मिजाज को कमजोर ही किया है।

इस बात से भी इंकार नहीं किया जा सकता कि भारतीय सांस्कृतिक विरासत को सहेज कर पणिक्कर ने मंचीय/ऐंद्रिय थिएटर को समृद्धिशाली बनाया है। इनका रंगमंच इनकी मौलिक कल्पनाशीलता, भावप्रवण संवेदना और पारम्परिक नाट्यकर्म से प्राप्त अनुभव से नयनाभिराम दिखता है। पणिक्कर ने स्वयं को मार्गी माना है। दूसरे शब्दों में कहें तो नए मार्गों का अन्वेषी। यह प्रतिबद्धता 'नवनवोन्मेष शालिनी प्रज्ञा प्रतिभामता' के कारण सार्थक हुई है। एक विशिष्ट क्षेत्र से जुड़ाव होने के बावजूद इनकी रंगयात्रा अपने बहाव में भारतीय बहुविध, बहुगुण संस्कृति को स्पर्श करती हुई चलती है। पणिक्कर का विशिष्ट थिएटर शिल्प राष्ट्रीयता का प्रतीक है। इस दृष्टि से भारतीय रंगकर्म इनका सदैव ऋणी रहेगा। □

पारम्परिक रंगमंच...

पृष्ठ 16 से आगे

कोई फर्क नहीं होता है। बादल सरकार ने आँगन, छत, नुक्कड़ और गाँवों में नाटकों को पहुँचाकर नाटक को व्यापक बनाया। उन्होंने कई बार नाटकों में महिला पात्र का काम किया, हालाँकि उनके माता-पिता को यह बिल्कुल पसन्द नहीं था। 'नुक्कड़ नाटक' के उनके मुहावरे को राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय तक में सम्मान मिला। बादल सरकार का रंगकर्म व्यवस्था के विरुद्ध उद्घोष है। उनकी ऊर्जा हर युवा को आकर्षित करती है, इसलिए बादल सरकार के नाटक पूरे देश में हर नाट्य दल द्वारा बार-बार खेले गए। बादल सरकार अभिनेता थे, नाटककार थे, निर्देशक थे और इन सबके अतिरिक्त रंगमंच के सिद्धांतकार थे। उन्होंने तीसरा रंगमंच का सैद्धांतिक प्रतिपादन किया और उसे मंच पर भी उतारा।

बादल सरकार को वर्ष 1968 में संगीत नाटक अकादमी पुरस्कार,

वर्ष 1972 में पद्मश्री, वर्ष 1997 में संगीत नाटक अकादमी-रत्न सदस्य का पुरस्कार मिला। वर्ष 2010 में भारत सरकार द्वारा उन्हें पद्म-भूषण सम्मान दिया गया जोकि उन्होंने लेने से यह कहकर इंकार कर दिया कि एक लेखक का सबसे बड़ा सम्मान साहित्य अकादमी पुरस्कार वह पहले ही पा चुके हैं। तीसरा रंगमंच के संस्थापक और भारतीय ग्रामीण पारम्परिक रंगमंच के पुरोधा बादल सरकार का पश्चिम बंगाल की राजधानी कोलकाता में 13 मई 2011 को निधन हो गया। बादल दा के नाटक समाज में अत्याचार और बिखरती समाज व्यवस्था के विरुद्ध तीखा प्रतिरोध करते हैं। समाज और राजनीति की विदूषताओं पर उनके नाटक गहरी चोट करते हैं। इस कारण बादल सरकार के नाटक और वे स्वयं भी देश के रंगकर्मियों के चहेते बने रहे हैं। □



रंगजगत भूमंडलीकरण, ओटीटी का बाज़ार और स्त्रियों की स्थिति

सुनीता

रंगमंच का महत्त्व उसकी व्यापकता में है। व्यापकता में ही वैश्विक सरोकार और सम्मान है। कला की पराकाष्ठा कलात्मक लोकप्रियता से है। लोक की आवाज़ नाट्य मंच से अक्षुण्ण बनी हुई है। फ़िल्म इंडस्ट्री के स्वतन्त्र अस्मिता के बावजूद नाट्यविधा विकसित और आधुनिक रूप में आकर्षण का केन्द्र बिन्दु है। कला, साहित्य, समाज, संस्कृति और परम्परा में नित नवीन आयाम जुड़ रहे हैं। अत्याधुनिक तकनीकी उपकरणों के संजाल में भी रंगमंच मानवीय और दैवी की श्रेणी में खड़ा है। बौद्धिक समाज सम्पूर्ण सृष्टि को एक रंगमंच कहकर व्याख्यायित करता है। दरअसल होशमंद मानव की नसों में अभिव्यक्ति कौशल रंगमंच से निखरती है। दुनिया के दूरस्थ छोर तक रंगमंच किसी-न-किसी रूप में अवस्थित है। रंगमंच और स्त्री भावना के आवेग से प्रकंपित समाज मंच पर देखने से गुरेज़ करता रहा है जबकि स्त्रियाँ जन्मते ही जीवन के रंगमंडप में समय-समय पर विभिन्न भूमिकाओं में अभिनय करती हैं। जहाँ हँसना होता है वहाँ रोना पड़ता है, जहाँ चुप होना होता वहाँ लड़ने की नौबत आ जाती है। रिश्तों के मकड़जाल से समाज के रंगमंच तक सतत् सक्रिय होकर भी नेपथ्य में रही हैं। इतिहास बदलने में सदियाँ लग ही जातीं किन्तु बदलाव की एक चिंगारी समय को रेखांकित करने के लिए काफ़ी है।

भारतीय नाट्यशास्त्र को 'पंचम वेद' की संज्ञा दी गई है। नाट्य मंच युगों से पुरुष वर्चस्ववादी रहा है। आरम्भिक दिनों से लेकर मौजूदा 'ओवर द टॉप' (ओटीटी) के व्यापक विस्तार के मध्य स्त्री अभिनय की स्थिति उत्तरोत्तर बन और बदल रही है। परिवर्तनशील समय में, स्त्री-विमर्श के भीड़ में व्यवस्थित व्यवस्था से सम्बन्धित अपेक्षाएँ अपेक्षाकृत अमान्य हैं। रंगजगत, समाज के अन्य प्रभागों से पृथक नहीं है। वर्तमान स्त्री सहभागिता की प्रतिध्वनि अतीत के बरक्स सुस्पष्ट देखा जा सकता है।

भारतीय रंगमंच वस्तुतः संस्कृत रंगमंच और पारसी रंगमंच के सन्निकट है, जिसमें क्षेत्रीय रंगमंच की भूमिका अहम रही है। यह अब भी है। ऐतिहासिक, भौगोलिक, समाज के वैज्ञानिक परिस्थितियों के अन्वेषण में नाटक, रंगमंच, स्त्रियाँ, प्रवेश और स्थिति का बीज

पक्ष विचारणीय है। रंगमंच में ध्वनित सन्दर्भ रंग-समूह, निर्देशक, बुद्धिजीवी, अकादमिक, चित्रकार, डिज़ाइनर और कलमकार आदि का योगदान रंगमंच को मुकम्मल बनाता है। जहाँ प्रायः स्त्रियों की उपस्थिति न के बराबर रही है।

रंगमंच का क्रिस्सा रोचक, दिलचस्प और काफ़ी हद तक मिथक जैसा है जिसमें स्त्रियों की स्थिति का क्रमिक विकास कष्टकर व मद्धम रहा। प्रथम स्त्री रंगमंच अभिनेत्री मार्गरेट हाजेस जिन्हें पेग हाजेस के नाम से मकबूलियत हासिल थी' ने 8 दिसम्बर 1660 में पेशेवर अंग्रेज़ी रंगमंच पर अपने अभिनय का जादू बिखेरा था। स्त्री कदमों की आहट रंगमंच पर यहीं से मिलनी शुरू हुई थी। भारतीय परिप्रेक्ष्य में भरतमुनि विरचित 'नाट्यशास्त्र' के कुशल, विदग्ध, प्रगल्भ, श्रमशील दुनिया में आधी आबादी का रंगमंच में प्रवेश "जो न वेद सुन सकते थे, न बोल सकते थे, उन्हीं के लिए ये वेद लिखा गया है।" अर्थात् 'शूद्रों का नाट्यशास्त्र' कहा गया, बावजूद इसके स्त्री अभिनय की दृष्टि से हज़ारों पेचोखम बने रहे। सामाजिक ढाँचे के तमाम लानत-मलानत के बाद भी 'कौशिक वृत्ति' (सौन्दर्य चेतना को लेकर सुकुमार भावनाओं के प्रदर्शन से है) का संकट आधुनिक काल में भी जस का तस है। 'भारती वृत्ति' (शब्दों के द्वारा भाव प्रकट करना) स्त्रियों के अभिनय के लिए स्त्रियों को रंगमंच पर उतारने की वृत्ति है। सदियों पहले का कथन- "स्त्रियों के रंगमंडप में सज-धज के उतरने से अधर्म की वृद्धि होती है।" निरुपेक्ष सोच की पराकाष्ठा अत्याधुनिक दौर में भी बना हुआ है। लोक नाटकों को छोड़िए, शहरों-महानगरों में भी नाटक करने वाली स्त्रियों को हमेशा सशंकित निगाहों से देखा जाता है।

जिस तरह से जीवन स्त्रीत्व एवं पुरुषत्व के दो भागों में विभक्त है। जीवन के प्रत्येक कार्य में दोनों की बराबर सहभागिता होती है। उसी प्रकार कला के अंग-प्रत्यंग में दोनों की समान उपस्थिति एकरूपता का परिचायक कहा जाएगा लेकिन मानसिक संरचना में ढील न देने की प्रवृत्ति आधुनिक दौर में भी जारी है। गौरतलब है मूँछ-दाढ़ी मुड़ाए स्त्री भेष में पुरुष की उपस्थिति से रंगभूमि हास्यास्पद तो लगती ही है, कला की दृष्टि से भी अपमानजनक है और स्त्री नज़रिए से भेदभाव की

ई-मेल : drsunita82@gmail.com

प्राचीनतम मानसिकता का पोषण व शोषण का ही रूप है। चकित पक्ष ये है कि आधुनिक समय में 1846 से 1931 के मध्य जीवन्त रंगमंच का उदाहरण मिलता है किन्तु इस दौर में भी स्त्रियों की उपस्थिति नगण्य थी। प्रवेश वर्जित था। द्वन्द्व उत्तरोत्तर चलता रहा। हालाँकि 1930 से संकीर्ण मानसिकता वाले समाज में धीरे-धीरे परिवर्तन की तुरही बजनी शुरू हुई। धीरे-धीरे एक स्वर अनुगूँजित होने लगा कि कला-विकास की दृष्टि से स्त्री का रंगमंच पर उतरना आवश्यक है। थोड़ा पीछे की ओर देखें तो हम पाएँगे-नाट्यशास्त्र के छत्तीसवें अध्याय के 27वें श्लोक में उल्लेखित है कि स्त्री के खाली स्थान को अंतःपुर की स्त्रियों से भरा जाए। भरतमुनि और उनके शिष्यों ने नाटक का भविष्य सुरक्षित व सुनिश्चित करने का जो तरीका निकाला उससे एक बड़ा प्रश्नवाचक चिह्न लगता है। आखिर कौन हैं ये अंतःपुर की स्त्रियाँ? अनुत्तरित प्रश्न के बरक्स संख्या बढ़ती दिख नहीं रही है फिर भी सुरेखा सीकरी, उत्तरा बावरकर, जोहरा सहगल, त्रिपुरारि शर्मा, अनुराधा कपूर, हेमा सिंह, सीमा विस्वास, कीर्ति जैन, तृप्ति मिश्र, साँवली मिश्र, उषा गाँगुली, उमा झुनझुनवाला, हिमानी शिवपुरी, नादिरा बब्बर, अमाल अल्लाना, शीला भाटिया, नीलम मानसिंह, शाँता गाँधी, अनामिका हक्सर, विजया मेहता, सुधा शिवपुरी, विभा मिश्रा, माया राव और विभा रानी सहित कई नामचीन हस्ती हैं जिन्होंने रंगमंच पर स्त्री के रूप में अपनी विशिष्ट पहचान बनाई। चिन्ताजनक यह है कि इतनी बड़ी दुनिया में वो मुकाम नहीं मिला जिसकी स्त्रियाँ हकदार हैं।

“शृंगार रस से उत्पन्न सुन्दर वेशभूषा से सुसज्जित नृत्य की विभिन्न मुद्राओं एवं अंगहारों से परिपूर्ण इस वृत्ति को, शिव के नृत्य में देखा तो है, लेकिन उसका प्रदर्शन तो स्त्रियों द्वारा ही संभव है।” भरतमुनि के कथन के तत्पश्चात हजारों वर्ष पहले जैसे स्त्री चरित्र को लेकर संदेह किया जाता था, वह सिलसिला भूमण्डलीकरण के आगमन और समाज में आमूलचूल परिवर्तन के बाद भी ज्यों-का-त्यों है। अभिनय के क्षेत्र में पदार्पण की इच्छुक स्त्रियों का इतिहास दर्द की कलम से यथार्थवाद के शिलापट्ट पर अंकित है। सामाजिक परिस्थितियों का कुचक्र टूटते-टूटते इक्कीसवीं सदी का दूसरा दशक तेजी से बीतने के कगार पर है तिसपर भी स्त्री रंगमंच अभिनय की वास्तविक सहजता दूर की कौड़ी प्रतीत होती है।

भारत में नाटकों की सुदीर्घ परम्परा में मनोविनोद दृश्य व श्रव्य के तौर पर मुख्य है। स्वर्ग से चला नाटक पृथ्वी पर राज-दरबार, मन्दिर के प्रांगण में पनाह पाया। संस्कृत नाटकों में समाज के प्रत्येक वर्ग की भागीदारी बराबर थी। नाटक में स्त्री भूमिकाओं के विकल्प के रूप में पुरुष चुने जाते रहे। धीरे-धीरे स्त्रियोचित समाज निर्माण के क्रम में लगभग डेढ़ सौ वर्ष बीत चुका है। युगांतर में जहाँ स्त्री भूमिका के लिए अवर्ण स्त्रियाँ अस्पृश्य मानी जाती थीं। उनके प्रतिपक्ष का मार्ग ‘देवदासी’ के रूप में चुना गया। महाभाष्य में वर्णित है कि- स्त्री पात्रों की भूमिका निभाने वाले अभिनेताओं की पत्नियों को गिरी नैतिकता का माना गया और ब्राह्मणों को सलाह दी गई कि वे उनसे दूर रहें। कमोबेश यही स्थिति उपनिषद्काल में भी देखा गया। वर्तमान में ऐसे कुचक्र टूटे हैं बेशक पूर्णतः खत्म नहीं हुए हैं। नई पीढ़ी रंगमंच के विभिन्न परकोटों से जुड़ रही है। विभा रानी का ‘अवितको रूम थिएटर’ प्रयोगात्मक ही नहीं बल्कि रंगपट व स्त्री दृष्टि से समृद्धिजनक है।

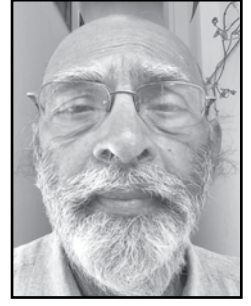
भारतीय परिदृश्य में यथार्थवादी समाज में बतौर प्रतिपक्षी ठेठ

रंगदृष्टि का प्रतिबिम्बन स्त्री मूलक कम रहा है। बहुविध रंग-शैलियों में नाटक अलहदा है। जहाँ स्त्री की उपस्थिति दस प्रतिशत से भी कम है। नाट्य समाज से जुड़े लोग ऊपर से लोकतान्त्रिक दिखते हैं जबकि व्यावहारिक रूप में वर्णवादी है। नाटक जिसे ‘चाक्षुष यज्ञ’ की भी संज्ञा दी गई है, उस चाक्षुष प्रदेश में स्त्री प्रवेश का इतिहास कई पड़ावों से गुजरा है। ‘ड्रामैटिक रियलिज़्म’ में पुरातनतम और आधुनिकतम समाज से दृष्टिगत होता है कि बतौर निर्देशक, अभिकल्प-लेखक, मंच सज्जाकार, अभ्यंतर संगीतकार के रूप में स्त्रियों की संख्या बहुत कम है। धीरे-धीरे स्त्रियाँ न सिर्फ अभिनय के क्षेत्र में बढ़ रही हैं बल्कि नाट्य निर्देशन में भी समुचित हस्तक्षेप करने लगी हैं। प्रत्यक्ष प्रमाण के तौर पर ऊषा गांगुली, शाँता गाँधी, रेखा जैन, त्रिपुरारि शर्मा, विजया मेहता और प्रतिभा अग्रवाल सरीखी स्त्रियों ने सदियों के भावपूर्ण मंच पर अपना एक नया सशक्त व सुसज्जित रंगशाला तैयार किया है।

बाज़ारवाद, उपभोक्तावाद, उदारीकरण, भूमण्डलीकरण, सूचना-क्रान्ति विस्तार से उपजे ग्लैमरवाद के विस्फोटक समय में रंगमंच पर स्त्रियों की उपस्थिति व स्थिति अपेक्षाकृत कम है जबकि आज अनेकानेक नाट्य थिएटर और रंगमंडलियाँ सक्रिय रूप से भारतीय रंगमंच को तेज़ गति देने में अग्रणी भूमिका निभा रही हैं। उनके प्रयासरत समूहों से उम्मीद की नई किरण प्रज्वलित हो रही है। जब अतीत में सन् 1846 में जगन्नाथ शंकर शेटे ने ‘बादशाही थिएटर’ की नींव रखी, उसके पश्चात ‘पारसी नाटक मंडली’ की नींव पड़ी। पारसी थिएटर के संस्थापक पेस्तनजी धनजी भाई मास्टर थे। आधुनिक हिन्दी थिएटर के जनक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने ‘बनारस थिएटर’ की स्थापना की। मराठी, गुजराती के बाद हिन्दी रंगमंच को नवीनता देने के क्रम में यह बड़ा कदम साबित हुआ। उपरोक्त मंडलियों की स्थापना के बाद भी स्त्रियों की भूमिका पुरुषों द्वारा निभाने का क्रम बना रहा। गायन-वादन और नृत्य कला अनुरागी स्त्रियों के प्रति समाज की क्रूरता जस-तस रही। स्त्री कला को हेय दृष्टि से देखने की बजबजाहट समय-समय पर मिलती रही है। 19वीं शताब्दी तक रंगमंच की दुनिया स्त्रीविहिन रही। बेशक पारसी थिएटर में मेरी फ्रैटन नामक एक एंग्लो-इंडियन अभिनेत्री को शामिल किया गया जहाँ से परिवर्तन की छोटी मगर मजबूत झलक मिलती है। सन् 1888 में ‘विक्टोरिया थिएट्रिकल कम्पनी’ अस्तित्व में आई। इसके संस्थापक केन काबरा की टिप्पणी आज भी चुभती है। “रंगमंच की पवित्र दुनिया वेश्याओं के अभिनय से दूषित हो जाएगी।” सुचिता-दुषिता सन्दर्भित चुनौतियाँ थोड़ी-सी ढील के साथ कायम है। यह चिन्ताजनक है कि चमचमाते ओटीटी, रंगीनियों से भरपूर वातावरण निर्मित ने भी रंगमंच और स्त्री स्थिति को वो सहूलियतें नहीं दी जिसकी अपेक्षा थी। असहयोग आंदोलन, प्रगतिशील लेखक संघ ने स्त्री सहभागिता को सुगम बनाया ज़रूर पर प्रश्न बना रहा कि कितना? यह अब तक चल रहा है।

जनवरी 1874 ई में ‘अमृत बाज़ार पत्रिका’ ने लिखा, “बंगाली थिएटर संभ्रांत बंगाली समाज के लिए नई चीज़ है। यह अत्यन्त सुखद और खूबसूरत प्रयास है कि महिलाएँ स्त्री पात्रों की भूमिका अदा करें।” कथन को लम्बा अंतराल बीत चुका है। स्त्री सहजता की खींचा-तानी चल ही रही है। 25 मई 1943 ई. भारतीय जननाट्य संघ (इप्टा), 15 जनवरी 1944 ई. में पृथ्वी थिएटर, 1959 में राष्ट्रीय विद्यालय

....पृष्ठ 29 पर जारी



साहित्यकार पिता की अविस्मरणीय यादें

अतुल कुमार

विष्णु प्रभाकर मूलतः कहानीकार थे। वे सन् 1938 तक कहानीकार के रूप में स्थापित हो चुके थे। उसी वर्ष उनका विवाह हुआ और बारात में अन्य साहित्यकारों के साथ प्रभाकर माचवे भी शामिल थे। उन्होंने कहा, “विष्णुजी आपकी कहानियों में संवाद बहुत सुन्दर होते हैं आप नाटक क्यों नहीं लिखते?”

विष्णुजी के मन में नाटक-प्रेम जागा। वे नाटक लिखने की कला से तो परिचित नहीं थे पर हिसार में रहते नाटकों में अभिनय किया करते थे। अंतर्मन में बसे उस जुड़ाव ने जोर मारा और उसी वर्ष उन्होंने एक एकांकी लिखा ‘हत्या के बाद’ जो ‘हंस’ में छपा पर फिर गुम हो गया। एक वर्ष बाद उन्होंने दूसरा एकांकी लिखा ‘माँ-बाप’ जो अनेकों पाठ्य-पुस्तकों में शामिल हुआ।

वे बताते हैं जैसे वे अचानक एकांकी लेखन से जुड़ गए वैसे ही अनायास रेडियो से जुड़ाव हो गया। सन् 1944 में हिसार छोड़ दिल्ली आ बसे। सन् 1947 में विभाजन हुआ। उस समय ऑल इंडिया रेडियो के दिल्ली केन्द्र पर उर्दू अदीबों का आधिपत्य था। विभाजन के बाद उनमें से अधिकतर पाकिस्तान चले गए। तब स्वाभाविक था कि हिन्दी लेखकों की खोज हुई। उसी प्रक्रिया में उनका सम्पर्क आकाशवाणी से हुआ और उस समय की परिस्थितियों के चलते वे रूपक और नाटक लिखने लगे। उस समय उनके मित्र भी उसी रुचि के मिल गए थे— दीनानाथ दिनेश, चन्द्र किरण सौनरेक्सा, देवराज दिनेश आदि। इस प्रकार जुड़ने के बाद ही उन्होंने रूपक लिखना भी सीखा। धीरे-धीरे आकाशवाणी से उनका जुड़ाव गहराता गया। उन्होंने अधिकांश एकांकी आकाशवाणी के लिए लिखे। वे बताते हैं कि इस विधा को उन्होंने ध्वनि-नाटक के रूप में पहचाना और धीरे-धीरे उस में पारंगत हासिल की। इन नाटकों की भाषा और शैली विशिष्ट होती है। रंगमंच और दूरदर्शन से तो बहुत बाद में जुड़े। उनके अनुसार चूँकि उन्होंने सबसे अधिक ध्वनि-नाटक ही लिखे, इसलिए उनकी नाट्यकला पर उसका प्रभाव अधिक है।

वे बताते हैं उस समय उनका दूसरा घर आकाशवाणी भवन ही हो गया था। आकाशवाणी के लिए उन्होंने नाटक ही नहीं, अनेक प्रकार के कार्यक्रम किए, उसमें अभिनय भी था। दिल्ली में स्थापित होने का यह एक सुनहरा अवसर उन्हें मिल गया था लेकिन उस समय पारिश्रमिक भी तो नाममात्र को ही मिलता था।

समय बीत रहा था। सन् 1946 में उन्होंने यह निश्चित कर लिया था कि वे अब केवल स्वतन्त्र लेखन करेंगे, कोई नौकरी नहीं करेंगे। सन् 1955 में सूचना एवं प्रसारण मन्त्री थे डॉक्टर केलकर। वे स्वयं बड़े विद्वान थे। उन्होंने आकाशवाणी के लिए कई योजनाएँ बनाई और संगीत नाटक और वार्ता विभाग में काम करने को अनेक लोगों को निमन्त्रण दिया। उसमें हिन्दी नाटक विभाग के लिए विष्णु प्रभाकर का नाम प्रस्तावित हुआ, जो जगदीश चन्द्र माथुर द्वारा प्रस्तावित हुआ और ख्यातिनाम कवि सुमित्रानन्दन पन्त ने इस विषय पर विष्णुजी से विस्तार में चर्चा की। दूसरी तरफ़ विष्णुजी का निश्चय था। वे दुविधा में थे। तभी उनके मित्र यशपाल जैन ने उन्हें उनके हाथ की लिखी एक पर्ची दिखाई जो शायद उन्होंने मित्रता के झोंक में उन्हें लिखकर दे दी थी। उसमें लिखा था- “यदि मुझे 700 रुपये मासिक वेतन मिले तो मैं सरकारी या गैर सरकारी संस्थान में काम करने के बारे में निश्चय ही विचार कर सकता हूँ।”

कारण कुछ भी रहा हो, उन्होंने प्रस्ताव स्वीकार कर 20 सितम्बर 1955 को पदभार ग्रहण कर लिया। वातावरण में उत्साह था। महानिदेशक गिरिजाकुमार माथुर ने कहा था, “आप लोगों के कक्ष सांस्कृतिक जागरण के कक्ष बनेंगे” और सचमुच उस समय के सभी मनीषी कार्यक्रमों में पूरा सहयोग करते थे और बड़े उत्साह से सहभागिता निभाते थे। अनेक प्रयोग किए उन्होंने। रंग नाटक को सीधे आकाशवाणी से प्रसारित करने का प्रयोग भी किया, लेकिन स्वाभाविक कारणों से वह असफल रहा क्योंकि जो ध्वनि प्रभाव आने चाहिए थे, वे नहीं आ पाए।

ई-मेल : atul.kumar018@gmail.com

इस क्षेत्र में जितने प्रयोग उन्होंने किए शायद ही किसी अन्य ने किए हों और वे सब प्रतिमान बने। नाट्य सप्ताह, नाट्य प्रतियोगिता, स्टूडियो से बाहर जाकर रिकॉर्डिंग, एक ही विषय को लेकर तीन दृष्टिकोण प्रस्तुत करते नाटक प्रसारित करना, अखिल भारतीय स्तर के कार्यक्रम, सुचारु सुविधा न होते हुए भी राष्ट्रीय व अंतरराष्ट्रीय कार्यक्रमों का जीवन्त प्रसारण और रिकॉर्डिंग, जैसे सोवियत नेता बुल्गानिन और ख्रुश्चेव की यात्रा का जीवन्त प्रसारण आदि सब उन्होंने निभाए। यह सब उस समय के लिए नया और विशिष्ट था। उस समय पूर्ण समर्पण से कार्य करते हुए उनके मन में तनिक भी यह भाव नहीं था कि जल्द ही इस सबसे उनका मोहभंग हो जाएगा।

जल्द ही अनेक प्रकार की पाबंदियाँ अपना प्रभाव दिखाने लगी थीं। वे अपने संस्मरण में लिखते हैं, “आकाशवाणी में रहते एक वर्ष हो रहा था। व्यस्तता के बावजूद और भी अन्य कारण थे जो मुझे त्यागपत्र देने को विवश कर रहे थे। माँ चल बसी थी। उसके जाने के बाद मैंने त्यागपत्र दे ही दिया। अन्य कारणों में एक था मैं अपने मन की लिखने के लिए समय नहीं निकाल पा रहा था। दूसरा कारण था वहाँ का स्थाई स्टाफ हमारी नियुक्ति से नाराज़ था। उनका तर्क था, लेखक लोग क्या जाने कार्यक्रम कैसे प्रसारित किए जाते हैं। यद्यपि सभी अफ़सरों और सहयोगियों से मेरे सम्बन्ध बहुत ही मधुर रहे, क्योंकि सन् 1955 में पद सम्भालने से पूर्व सन् 1947 से मैं उन सबसे घनिष्ठ रूप से जुड़ा रहा। तीसरा कारण था राजनेताओं की रोज़ की दखलअंदाज़ी। चौथा कारण था नाना रूप वर्जनाएँ। प्रारम्भ में जो उत्साह था वह धीरे-धीरे विलुप्त हो रहा था। क्या करना होगा, क्या नहीं ऐसे, आदेश आने शुरू हो गए थे।

इस अवधि में जो रोचक और मनोरंजक घटनाएँ घटीं और जो अनुभव उन्हें हुए, उनकी चर्चा करते हुए वे बताते थे, “एक आदेश आया नाटक विभाग में जनता चाहती है कि आकाशवाणी से 75 प्रतिशत नाटक हास्य-रस के प्रसारित हों। हाँ, 20 प्रतिशत सामाजिक और पाँच प्रतिशत मनोवैज्ञानिक व ऐतिहासिक आदि। त्रासद नाटक कभी-कभी ही होने चाहिए। प्रेम और इश्क भी वर्जित था। मामा वरेरकर और मेरे नाटक भी प्रसारित न हो सके। शराब का नाम आ सकता था पर पीने की अनुमति नहीं थी।

एक मीटिंग में उन्होंने प्रश्न उठाया, “आखिर प्रेम है क्या?”

“जो पति-पत्नी के बीच होता है।”

“वह तो अनुबंधित प्रेम होता है।”

“आकाशवाणी पर उतना ही अनुमत है।”

वे बताते हैं कि जब उन्होंने अमृता प्रीतम से नाटक लिखने को कहा तो वे हँसीं और बोलीं, “विष्णुजी मेरे पास तो दो ही चीज़ें हैं, इश्क और प्यार, वे दोनों यहाँ वर्जित हैं।”

कभी-कभी आकस्मिक चुनौतियाँ मिलने पर सुखद अनुभव भी होते थे। प्रत्येक शुक्रवार नाटक प्रसारित होता था। एक बुधवार को उद्धघोषिका ने न जाने किस झोंक में घोषणा कर दी, आगामी शुक्रवार विष्णु प्रभाकर रचित नाटक ‘माँ’ प्रसारित होगा। समझ आने पर वह दौड़ कर विष्णुजी के पास आई और बात बताई। इस नाटक की कोई योजना नहीं थी, न ही तैयारी थी पर सभी कलाकारों के सहयोग से

विष्णुजी ने वह नाटक लिखा और समय पर प्रसारित भी हुआ।

इसी तरह एक दिन रात को 9:30 बजे प्रसारित होने वाले नाटक की नायिका अचानक 8:45 बजे बेहोश हो गई, एक घंटा शेष था। नाटक तब रिकॉर्ड होते नहीं थे। विभाग की प्रतिष्ठा का प्रश्न था। स्टूडियो से बाहर आया तो देखा सामने से कुमारी मधुमालती आ रही थीं। वह आकाशवाणी की सर्वश्रेष्ठ अभिनेत्रियों में रही हैं। मैंने उसे अपनी कठिनाई बताई। बोली, “अब इतनी जल्दी क्या हो सकता है।” मैंने पाण्डुलिपि उसे दी और कहा, क्या कर सकती हो यह मुझे बताने की आवश्यकता नहीं है। एक बार पढ़ लो और स्टूडियो में आ जाओ।”

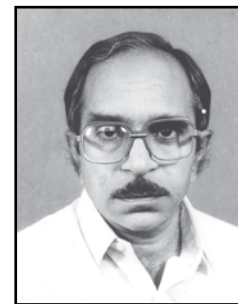
विश्वास कीजिए वह नाटक ठीक समय पर प्रसारित हुआ और अधिक सफलतापूर्वक हुआ। ऐसे अनेकों अन्य सहयोगी थे जिन्होंने हर परिस्थिति में सहयोग किया, चिरंजीत सत्येंद्र शरद, विनोद शर्मा, राजेश्वर नाथ, फ़कीर चन्द माथुर, गंगा प्रसाद माथुर, दीनानाथ जोशी, अनवर खान, बी.आर. नागर, राम अवतार शर्मा, इस्लामुद्दीन, राजकुमारी, मधुमालती, शीला मधुर, निशा, विनोद कुकरेजा, सरल सुमन शुक्ला, रुद्र, कुक्कू माथुर, वीणा होरा आदि कुछ नाम हैं।

जनता के पत्र भी निरन्तर आते रहते थे। एक बंधु ने महिला उद्धघोषिका को लिखा, “जब आप बोलती हैं तो मैं अपनी पत्नी को गोद में बैठा कर खूब प्यार करता हूँ।” एक अन्य ने लिखा, “क्यों साहब मैं आपके नाटक 20 वर्ष से सुन रहा हूँ, पर तब से लेकर अब तक उसमें एक ही बच्चा रोता है, क्या वह अभी जवान नहीं हुआ।” तुरन्त ही आदेश किया और सभी पुराने ध्वनि प्रभावों को नए सिरे से रिकॉर्ड किया गया।

जब विष्णुजी आकाशवाणी में थे तब मैं मात्र 11 वर्ष का था। यदा-कदा ही मेरा वहाँ अंदर स्टूडियो में जाना हुआ। मेरी स्मृति में अभी भी है जो हमने वहाँ देखा। कैसे कुछ विशेष ध्वनि प्रभाव पैदा किए जाते थे। स्टूडियो में एक वॉश बेसिन था। उसको पूरा भरा गया और उसमें झाड़ू की सींक को लयबद्ध तरीके से चलाकर नाव के चलने का प्रभाव पैदा किया जाता था। उस भरे पानी में ऊपर से एक कंकड़ डालकर किसी के नदी में कूदने का प्रभाव पैदा होता। पानी खोल देने से जब वह तीव्र गति से बाहर निकलता तो नदी में उफान का प्रभाव उत्पन्न होता। धीरे-धीरे खोले जाने पर संकरे मार्ग से गुज़रने का आभास होता। इस तरह से अनेक प्रकार के ध्वनि प्रभाव पैदा किए जाते थे।

ऐसी अनेकों खट्टी-मीठी स्मृतियों से भरा रहा उनका कार्यकाल। अनेकों मित्रों से घनिष्ठता बढ़ी। केरल के महाकवि जयशंकर कुरूप, बांग्ला के प्रेमेश्वर मित्र, गुजराती के श्री मेहता, मराठी के मामा वरेरकर, कन्नड़ के आयरंगाचार्य, उर्दू के सागर निज़ामी और सलाम मछली शहरी। संगीत की दुनिया के दुर्लभ रत्न रविशंकर और डॉ. मुट्टाकर के अतिरिक्त हिन्दी के सुमित्रानन्दन पन्त, भगवती चरण वर्मा, नरेन्द्र शर्मा, इलाचन्द्र जोशी आदि।

अंततः वह समय आ गया जब 31 मार्च 1957 को वे अपने कार्यालय की चाबियाँ और सभी दस्तावेज़ अपने सहायक चिरंजीतजी को सौंप कर वहाँ से विदा हो गए। वैसे तो उन्होंने छह माह पहले ही त्यागपत्र दे दिया था। स्वीकृति की प्रतीक्षा में विलंब से परेशान हो और अधिक प्रतीक्षा की दुविधा से निकल अपनी मुक्त राह पर बढ़ गए। □



बहुआयामी ताना-बाना : नाटक की आत्मा

(रंग शिल्पी हबीब तनवीर से महावीर अग्रवाल की अप्रकाशित बातचीत)

वर्ष 1982 में एडिनबर्ग इंटरनेशनल ड्रामा फेस्टीवल में वैश्विक स्तर पर एक प्रतियोगिता आयोजित की गई थी। दुनिया के 52 देशों के प्रतिनिधि रंगशिल्पी इस नाटक प्रतियोगिता में भाग लेने पहुँचे। विश्व के नाट्य समारोह में 52 देशों द्वारा प्रस्तुत किए गए नाटकों के बीच, हबीब तनवीर के 'चरनदास चोर' को पहला स्थान प्राप्त हुआ। नाटक 'चरनदास चोर' को सर्वाधिक प्रतिष्ठित 'फ्रिज फ़र्स्ट एवार्ड' से सम्मानित किया गया था। एक बार भिलाई में 'चरनदास चोर' नाटक देखने के लिए अठारह हजार दर्शक एकत्रित हुए थे।

हबीब तनवीर के रंगकर्म को देखने का सौभाग्य मुझे 1964 से लगातार चार दशकों तक मिलता रहा। छत्तीसगढ़ के नाचा कलाकारों को साथ लेकर हबीबजी ने दिल्ली में 1959 में 'नया थिएटर' की स्थापना की। हबीब तनवीर द्वारा निर्देशित नज़ीर अकबराबादी की शायरी से तैयार नाटक 'आगरा बाज़ार', 1954 से रवीन्द्रनाथ टैगोर के नाटक 'विसर्जन' 5 जनवरी 2006 तक लगभग पचास नाटकों की धूम रही। हर वर्ष होने वाली भेंट-मुलाकात में हबीब तनवीर से लगभग पच्चीस साक्षात्कार ले, रंगकर्म के साथ रंगदृष्टि को समझने की कोशिश की। एक बार फ़ोन पर उन्होंने मुझसे कहा, मैंने कुछ नया काम किया है, किसी दिन सुनने के लिए भोपाल पधारें। मैं वर्ष 2008 में भोपाल पहुँचा और हबीब तनवीर से दो दिनों तक नानाविध बातचीत हुई। यहाँ इसी बातचीत के अंश प्रस्तुत हैं—

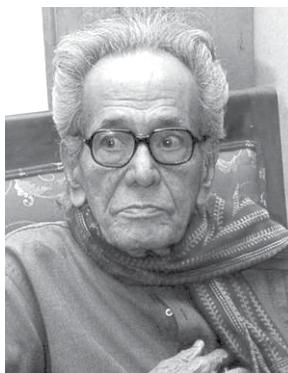
प्रश्न : छत्तीसगढ़ी लोक नाट्य, छत्तीसगढ़ी लोक गीतों के साथ, छत्तीसगढ़ के विविध कला रूपों को, यहाँ की प्रदर्शनकारी कलाओं का अनेक नाटकों में प्रयोग करते हुए आगे बढ़ाया है। आपने समझाया है, आम आदमी की आकांक्षाओं और वास्तविकताओं के दर्पण में नाटक जनजीवन के बहुत क़रीब है। लोक से जुड़ी कला परम्परा के मौलिक चिन्तक हैं आप। प्रयोगधर्मी नाटक में कलाओं के अंतःसम्बन्धों को आप किस तरह व्याख्यायित करते हैं?

उत्तर : हमारे यहाँ अनेक अँचलों में महाकाव्यों की मौखिक परम्परा आज भी मौजूद है। लोक नाट्य के साथ लोक गीतों और लोक गाथाओं की अभिव्यक्ति प्रत्येक अँचल में देखी-सुनी जा सकती है। महाराष्ट्र में तमाशा, गुजरात में भवाई, दक्षिण में यक्षगान और कुट्टियम, उत्तर प्रदेश में नौटंकी और स्वांग, असम में छऊ, राजस्थान में ख़्याल सहित रामलीला, रासलीला और जात्रा (यात्रा) जैसी अनेकानेक प्रदर्शनकारी कलाएँ जनता-जनार्दन के बीच लोकप्रिय हैं। इन सभी के बीच अंतःसम्बन्ध रहा है, यही वजह है कि नाटकों में किसी-न-किसी रूप में लोक कलाओं का प्रयोग नाटक के डायरेक्टर करते हैं। आप जानते हैं, छत्तीसगढ़ में भी पंडवानी, भरथरी, पंथी और छत्तीसगढ़ी नाचा की समृद्ध परम्परा जीवित है। इसके साथ ही हमारे छत्तीसगढ़ राज्य में गाथा-गीत, लोक-गीत और ठेठ देशी प्रदर्शन कलाओं का प्राचुर्य आज भी है। मैंने यह भी देखा, जाना और समझा है कि लोक कलाकारों के साथ काम करते हुए

शहर के कलाकार भी बहुत कुछ नया सीखते हैं। यह सभी कलाओं में अंतःसम्बन्ध होने के कारण ही संभव हो पाता है।

भरतमुनि के 'नाट्य शास्त्र' की गूढ़ व संतुलित विचार आपके अधिकांश नाटकों में प्रतिध्वनित होते हैं। आपने अपनी मौलिक सोच और प्रयोग द्वारा बहुत गहराई के साथ रूपायित कर अपने प्रत्येक नाटक को जीवन्त बनाया है। आपके नाटकों में परम्परा की अनुगूँज के साथ आधुनिक चेतना घुली रहती है। आधुनिकता में लोक तत्त्व का समावेश आप इतने करीने से करते हैं कि दर्शकों की जिज्ञासा लगातार बनी रहती है। नाटक की रोचक शैली में गुन्थी विषय-वस्तु दर्शकों तक सहज व सीधे सम्प्रेषित होती है।

अतीत, वर्तमान और भविष्य को साथ लेकर गतिशील रहना 'नाट्य शास्त्र' की बहुत बड़ी देन है। भरत मुनि ने नाटक को संगीत, नृत्य, चित्रकला, मूर्तिकला, अभिनय सहित सभी ललित कलाओं का संगम कहा है। हम इसे 'पाँचवाँ वेद' भी कहते हैं। 'नाट्य शास्त्र' के सांगोपांग अध्ययन और अपने जीवनभर के अनुभव के आधार पर कहना चाहता हूँ, नाटक एक सहज सम्प्रेषणीय माध्यम है, जो अपने बहुआयामी ताने-बाने के साथ समाज के सभी वर्गों और समुदायों तक पहुँच पाता है। 'अभिनवगुप्त' और 'आनन्दवर्द्धन' को हमें स्मृति में रखना ही होगा। हर नाटक अपने समय व संवेदना में भीगकर आधुनिक सन्दर्भों के साथ विकसित होता हुआ जन-जन के बीच पहुँचता है।



हबीब तनवीर

1 सितम्बर 1923- 8 जून 2009

‘नाट्य शास्त्र’ के आलोक में अंतः अनुशासन का महत्व हमारे ‘नया थिएटर’ के सभी कलाकारों ने समझा और अपनी मौलिक प्रतिभा के बल पर प्रत्येक नाटक को जीवन्त बनाया। यही कारण है कि हमारे नाटकों में दर्शकों का टोटा हमें कभी महसूस ही नहीं होता।

बहुआयामी ताने-बाने से यहाँ आपका क्या तात्पर्य है?

बहुआयामी का शाब्दिक अर्थ है, ‘जिसके अनेक आयाम हों।’ मकड़ी के बुने हुए जाले की तरह हो सकता है ताना-बाना या फिर कबीर वाणी की तरह सरल व संश्लिष्ट भी हो सकता है ताना-बाना।

यह तो डिक्शनरी में भी लिखा हुआ है। नाटक के सन्दर्भ में व्याख्या करते हुए, विस्तार से बताइए बहुआयामी ताने-बाने का अर्थ क्या है?

आधुनिक सन्दर्भ या आधुनिक परिप्रेक्ष्य के बिना नाटक, नाटक न होकर इतिहास की पुनरावृत्ति हो जाता है। हमें यह समझना होगा कि नाटक की प्रस्तुति केवल प्रदर्शनकारी कला नहीं है। यह जीवन से जुड़ी सांस्कृतिक परम्पराओं की सहभागिता भी है। इसमें भारत की समावेशी संस्कृति का आलोक है। नाटक में व्यक्ति, परिवार और समाज के परस्पर सम्बन्धों को व्याख्यायित करने की कोशिश होती है, तलदर्शी संवादों के साथ। हम कोई ऐतिहासिक नाटक खेलें या संस्कृत नाटक, खेले गए नाटक की देशगत व कालगत अवधारणा प्राचीन होती है, इसे हम हमारे समय के सुलगते हुए सवाल के साथ समन्वय करते हुए नाटक प्रस्तुत करते हैं। यह भी बहुआयामी ताने-बाने का एक पक्ष है। नाटक में सामाजिक सरोकार के अनेक दृष्टांत होते हैं, जिससे दर्शकों की संवेदना गतिशील होती है। नाटक के ताने-बाने में हम समाज, राजनीति, धर्म, इतिहास और संस्कृति के अंतर्विरोधों को खोलकर दिखाते हैं। इस तरह विवेचन से निकलते हुए पहुँचते हैं दर्शकों तक अलग-अलग आयाम। समग्र रूप से देखें तो अधुनातन सरोकारों में गुँथा होता है नाटक। नाटक की अनुगूँज से दर्शकों के भीतर भी वैज्ञानिक सोच में लिपटी नवीन दृष्टि विकसित होती है। रंगमंच की सम्पूर्णता उसकी सामुदायिक सहभागिता में है।

पिछले तीन दशकों में आपके द्वारा प्रस्तुत छत्तीसगढ़ी-हिन्दी नाटक (‘शतरंज के मोहरे’, ‘आगरा बाज़ार’, ‘मिट्टी की गाड़ी’, ‘सात पैसे’, ‘मुद्राराक्षस’, ‘इन्दर लोकसभा’, ‘गाँव के नाँव ससुराल-मोर नाँव दामाद’, ‘चरनदास चोर’, ‘सोन सरार अर्थात् लोरिक चंदा’, ‘बहादुर कलारिन’, ‘मंगलू दीदी’, ‘हिरमा की अमर कहानी’, ‘मोटेराम का सत्याग्रह’, ‘कामदेव का अपना-बसंत ऋतु का सपना’, ‘सड़क’, ‘एक औरत हिपेशिया भी थी’,

‘वेणी संहार’, ‘जहरीली हवा और विसर्जन तक’)) कई-कई बार देखे हैं। दर्शकों की कमी का रोना रोते हिन्दी रंगमंच के सामने ही आपके नाटकों में दर्शकों की पर्याप्त उपस्थिति रहती है। वर्ष 1989-90 में भिलाई के सिविक सेन्टर के ओपन एयर मैदान में नाटक ‘चरणदास चोर’ खेला गया, उस समय दर्शकों की संख्या अठारह हजार के आस-पास थी। मध्य प्रदेश के भोपाल में वर्ष 2006 में ‘प्रणति’ के छह-दिवसीय आयोजन में टिकिट पर होने के बाद भी दर्शकों को बैठने के लिए कुर्सी नहीं मिली तो उन्होंने खड़े होकर और सीढ़ियों पर बैठकर नाटक देखा। आपके नाटकों में उमड़ते दर्शक आपके बहुआयामी ताने-बाने से ही खिंचे चले आते हैं क्या?

आपके सवाल में ही जवाब भी छिपा हुआ है। गीत-संगीत में गुँथी कथा से सजे नाटकों को देखते हुए, लोक संस्कृति सहित लोक जीवन की खुशबू महसूस करता है दर्शक। हमारे नाटकों में दर्शकों के खिंचे चले आने के ऐसे एक नहीं अनेक कारण हैं, जिन्हें नाटक देखने के लिए आने वाले दर्शक अधिक सही बता सकते हैं।

आदिवासियों के साथ समूचे समाज की जीवन-पद्धति बुरी तरह प्रभावित हुई है। ‘जल, जंगल, ज़मीन’ से जुड़ा सवाल अपनी जगह आज भी मौजूद है, अब क्या और किस तरह किया जा सकता है?

हमें अपनी और सबकी सामुदायिक समझ को फिर से विकसित करना होगा। अगर हम एक मजबूत भारत चाहते हैं, एक तेज़ और सक्रिय जीवन-शक्ति से समृद्ध भारत चाहते हैं, तो हमें कई ज़रूरी कदम उठाने होंगे। सवाल जल, जंगल, ज़मीन का हो या हाशिए पर जीवन जीने को अभिशप्त निम्न वर्ग का या समाज का कोई भी वर्ग सवाल उठाए? हमें समझना होगा कि समदृष्टि के बिना कोई भी आर्थिक नीति न तो गरीबी कम कर सकती है और न ही संस्कृति को बचा सकती है। मेरा मानना है, गीत-संगीत, नृत्य के साथ कथ्य, भाषा और तकनीक का आधार पाकर रंगकर्म चतुर्दिक धर्म, राजनीति, समाज के हर क्षेत्र से और हर पहलू से जुड़ा होता है। मुझे अपनी लोक-कलाओं की शानदार जीवन्त परम्परा और क्लासिक नाटकों की महान विरासत पर गर्व है। इसलिए, नाटक व रंगमंच के अनूठे चितरे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के इस कथन के साथ मैं अपनी बात को विराम देता हूँ, “अहा! आज की संध्या भी कितनी धन्य है कि इतने गुणज्ञ और रसिक लोग यहाँ एकत्र हैं और सबकी इच्छा है कि हिन्दी का कोई नवीन नाटक देखें।” □

भूमंडलीकरण, ओटीटी...

पृष्ठ 25 से आगे

की स्थापना के साथ नाटक के विविधतापूर्ण संसार ने एक स्थायी आकार लेना शुरू किया। 1965 में ‘दिशान्तर’, ‘अग्रदूत’, ‘अभियान’ और ‘यान्त्रिक’ जैसी रंग संस्थाएँ उभरकर सामने आईं जहाँ स्त्रियों को लेकर एक सकारात्मक माहौल बनाना शुरू हुआ। सोशल नेटवर्किंग साइट्स के विभिन्न माध्यमों पर नाट्य की नई शैलियाँ विकसित हुई हैं जो कि लोक नाट्य मंच या नुक्कड़ का ही परिष्कृत स्वरूप कह सकते हैं। सक्रिय स्त्रियाँ रंगमंच का सूरत बदल रही हैं। युवा पीढ़ी की दिवंगल गुप्ता ने गत साल नाट्य विद्यालय बनारस में दाखिला लिया। सिलोलाइट मंच का प्रथम मार्ग नाट्य विद्यालय को बताया। जब सभी के

हाथ में गैजेट्स हैं, ऐसे वक्रत में कई-कई घंटे अभ्यास और फिर प्रस्तुति देने का सब्र समाप्त होता जा रहा है। तब कोई युवा रंगमंच चुने, श्रम से समय के साथ चलने का उपयुक्त माध्यम ठहराए तो उम्मीद की चिंगारी तेज़ चमकने लगती है। किसी भी देश, राष्ट्र, क्षेत्र की छवि बदलने में स्त्रियाँ अव्वल रही हैं। दस प्रतिशत में बढ़ोत्तरी होने पर अनुकूलता का वातावरण प्रबल होगा। हम उम्मीद करते हैं आने वाले दशकों में तमामतर प्रतिस्पर्धाओं के बीच रंगमंच की धमक, चमक, खनक और रौनक बनी रहेगी। कला विकास दृष्टि से स्त्री का रंगमंच पर आते रहना आवश्यक है। □



देव आनन्द क्रद से ऊँची शख्सियत

विनोद तिवारी

देव आनन्द से सम्बन्धित यह स्मृति बदलते समय के साथ एक भावनात्मक जुड़ाव है। परिवर्तन की प्रक्रिया से कोई अछूता तो है नहीं। एक समय जो बहुत अद्भुत, अकल्पनीय लगता था, धीरे-धीरे सामान्य होकर रह गया। क्या यह मान लिया जाए कि इतने ही से उसका महत्व समाप्त हो गया! क्या यह उचित होगा? आज के सन्दर्भ में वह भले ही बीते दिनों की बात लगे लेकिन जब उसे उसके कालखण्ड के सन्दर्भ में समझने की कोशिश की जाएगी, उसकी सामयिकता पर प्रश्नचिन्ह नहीं लगेगा। इस दृष्टि से देखें तो कोई भी कलाकृति कभी पुरानी नहीं होती, फिर चाहे वह कहानी हो, उपन्यास हो, फ़िल्म हो, गीत-संगीत हो, चित्रकला हो या अभिनय आदि, कोई भी अन्य कला हो। समय के साथ उसे प्रस्तुत करने वाली तकनीक जरूर बदल जाती है लेकिन अपने शिल्प को प्रस्तुत करने की कलाकार की ललक और उमंग नहीं बदलती। देव आनन्द के जिस उत्साह ने, लगन ने आज से कई दशक पहले फ़िल्मों, संगीतकारों, गायकों, गीतकारों, कलाकारों, तकनीशियनों को अनुकरणीय और प्रेरणाप्रद बनाया, उसका आज भी आदर इसीलिए किया जाता है कि उन्होंने अपने समय में सीमित साधनों और सुविधाओं के अभाव के बावजूद वह कर दिखाया जो आज संभव नहीं लगता। उन पर तब लिखी गई समीक्षाएँ या लेख हमें आज उनकी कला को समझने तथा उसका उपयुक्त आकलन करने की दृष्टि देते हैं। इसी तरह इस कालखण्ड में जो कुछ लिखा जा रहा है, लिखा जाएगा, कल के लिए एक थाती बनेगा। बदलती तकनीक के अनुरूप किसी-न-किसी रूप में उसे भी संजोया जाएगा।



दिलीप कुमार, देव आनन्द, राज कपूर की जगप्रसिद्ध त्रयी के इस सुपरस्टार्डलिश, सुपरस्टार को पहली बार तब देखा था जब मैं बी.ए. फ़ाइनल में था। वे नूतन के साथ किसी फ़िल्म, संभवतः 'मंजिल' की शूटिंग करने शिमला आए हुए थे। शहर के लक्कड़ बाज़ार एरिया में स्थित एकमात्र एसडीबी डिग्री कॉलेज में शूटिंग की वजह से लगभग छुट्टी का सा माहौल हो जाता। तब शिमला आज की तरह घना बसा और भीड़भाड़ वाला नहीं हुआ करता था। फिर भी सारे शहर में इस शूटिंग की धूम मच गई। पुलिस के लिए भीड़ को सम्भालता समस्या बनना ही था।

आखिर इतना बड़ा स्टार जो मौजूद था वहाँ! उस 'प्रथम दर्शन' में यह सोच पाना नामुमकिन था कि एक दिन इसी सुपरस्टार के साथ मेरी भिड़ंत होगी और वह भी ऐसी कि उसकी चर्चा अखबारों का विषय बनेगी।

बीए, एमए करने के बाद 'टाइम्स ऑफ़ इंडिया ग्रुप' की सुप्रसिद्ध फ़िल्म पत्रिका 'माधुरी' में काम करने के दौरान का वाक्या है यह। रिपोर्टर के तौर पर शूटिंग्स की कवरेज के लिए फ़िल्म स्टूडियो में विज़िट करना मेरे काम का हिस्सा

था। पत्रिका के सम्पादक थे अरविन्द कुमार। अपनी एक विज़िट के दौरान मैं बांद्रा स्थित महबूब स्टूडियो पहुँचा। देव आनन्द वहाँ अपनी किसी फ़िल्म की शूटिंग कर रहे थे। निर्देशक थे कलात्मकता तथा रचना कौशल के धनी, उनके भाई विजय आनन्द।

कुछ ही क्षणों बाद शूटिंग रोक दी गई। कोई खास बात नहीं। ऐसा तो सेट पर होता ही रहता है। कभी कोई तकनीकी खराबी, कभी निर्देशक और कलाकार के बीच कोई सलाह-मशविरा लेकिन यह सब ज़्यादा देर नहीं होता क्योंकि शूटिंग के दौरान हर मिनट की कीमत हज़ारों-लाखों

ई-मेल : vinodtiwari41@hotmail.com

रुपये होती है। वहाँ यह विराम कुछ लम्बा होता देख मैंने विजय आनन्द से वजह जाननी चाही।

“वजह तो आप खुद ही हैं”, उन्होंने बड़ी तल्लीनता के साथ जवाब दिया।

बड़ा ताज्जुब हुआ मुझे। “मैं? मैं क्यों?”

“देव से पूछ लीजिए। उनका कहना है कि जब तक आप सेट पर मौजूद रहेंगे, वे शूटिंग नहीं करेंगे। वजह मैं नहीं जानता।”

शूटिंग का इतना बड़ा नुकसान और वह भी मेरी वजह से! मैं सन्न रह गया। कुछ हैरत से और कुछ घबराकर मैंने देव आनन्द से कारण जानना चाहा।

वे बड़े क्रोध में थे। उन्होंने मेरी ओर देखा तक नहीं। फिर भी खुद को संयत करते हुए जो कुछ कहा वह शब्दशः तो याद नहीं पर यह जाहिर हो गया कि वे ‘माधुरी’ में उनकी पिछली फिल्म की मेरे द्वारा लिखी गई समीक्षा से नाखुश हैं। इसमें मैंने यह कहा था कि इस फिल्म में देव आनन्द का वह जादू नज़र नहीं आता जिसके लिए उनके प्रशंसक उनके दीवाने हुए जाते हैं। संभवतः यह बदलते समय की आहट है।

किसी स्टार के स्टारडम पर टिप्पणी करना शायद मेरी ओर से उचित न था लेकिन मैंने वही लिखा जो मुझे उचित लगा। वर्षों उनके करिश्माई व्यक्तित्व को देखा था जो अब फिल्म दर फिल्म कम हो रहा था। मैंने वह समय भी देखा था जब देव आनन्द के प्रति उनके प्रशंसकों का इतना क्रेज था कि युवतियाँ अपने दाँत देव के बाएँ ओर के थोड़े छोटे दाँत जितना कम करवा लेने के लिए डेन्टिस्ट के पास दौड़ी चली जाने लगी थीं। आज अनेक पत्रकार यह लिखते नहीं थकते कि पहले सुपरस्टार राजेश खन्ना हुए। निश्चित ही उन्होंने देव आनन्द का स्टारडम नहीं देखा। उनकी तर्ज पर झूम कर चलने वालों की आज भी कोई कमी है क्या? फुगगे जैसे बालों वाला उनका हेयरस्टाइल युवाओं के बीच क्या बार-बार लौट नहीं आता?

इस तथ्य से भी इनकार नहीं किया जा सकता कि अपनी धुन का उन जैसा मतवाला भी कम ही मिलेगा। जीवन के उत्तरार्द्ध में उनकी फिल्में, खास तौर पर उनकी निर्देशित फिल्में एक के बाद एक फ्लॉप होती चली गईं। उनके हितैषियों ने उन्हें बार-बार सलाह दी कि वे निर्माण और अभिनय तक ही सीमित रहें तो बेहतर होगा लेकिन वे हर बार नए उत्साह के साथ नई फिल्म शुरू करते रहे, यह कहकर कि फिल्म बनाना मेरा पैशन है, हिट-फ्लॉप का मुझ पर ज्यादा असर नहीं होता। मुझे जो कहना होता है अपनी फिल्मों के ज़रिए कहने की आज़ादी के लिए ही निर्देशन करता हूँ और किसी फ्लॉप के लिए किसी दूसरे पर इल्जाम नहीं करता।

उन्होंने कहा चाहे जो भी लेकिन अपना खोया हुआ वैभव लौटा लाने की तमन्ना भला किसे नहीं होती! यौवन, धन, ख्याति सब जब छूटने लगता है तब किसका हृदय विदीर्ण नहीं होता? इसमें किसी का कोई दोष नहीं। यह प्रकृति का नियम ही है।

आइए, वहाँ लौट चलें जहाँ देव शूटिंग के दौरान मुझ पर बरस पड़े थे। शायद समीक्षा में प्रयुक्त मेरे शब्द-चयन में ज़रूर कहीं कोई दोष रह गया होगा जो उन्हें इतना आहत कर गया वरना व्यक्तिगत तौर पर उनके खिलाफ मेरे मन में कोई दुर्भावना थी नहीं। वे फट पड़े, “हो सकता है कि मैंने कभी हाथ न मिलाया हो। यह भी मुमकिन है कि कभी चाय के लिए पूछने की याद न रही हो। इसी का नतीजा भुगतना पड़ा है

मुझे।” वे परोक्ष में बहुत-कुछ सुना गए। इसी आशय की और अनेक बातें कहकर वे अपने लिए रिज़र्व कुर्सी पर जा बैठे, बिना मेरी ओर देखे।

सारी यूनिट के सामने अपमानित महसूस किया मैंने। इस घटना की चर्चा कुछ अखबारों के फ़िल्म स्तम्भ में भी हुई। सबने इसे अपने ढंग से परिभाषित किया।

ऑफिस में सम्पादक अरविन्द कुमार ने इसे पत्रकारिता की स्वतन्त्रता के रूप में लेते हुए मुझे अपनी बात रखने की छूट दी। ‘माधुरी’ के अगले अंक में मैंने अपनी प्रतिक्रिया स्वरूप लिखे लेख में लिखा कि स्टार्स के हाथ मिला लेने या उनके चाय ऑफ़र करने से फ़ैस या दीवाने भले ही कृतकृत्य हो जाते हों, पत्रकारों के लिए यह सब नगण्य है। स्टार्स को यह फ़र्क समझना चाहिए। उनसे मिलने वाला हर कोई उनका फ़ैन ही हो, यह कोई ज़रूरी नहीं। कर्तव्यनिष्ठ पत्रकारों के साथ व्यवहार में फ़िल्मी व्यक्तित्व आपा खो दें, यह उन्हें शोभा नहीं देता।

अब यह डिबेट का विषय बन गया। तब टेलीविज़न तो था नहीं, पत्रिकाओं की धाक हुआ करती थी। उनका पाठकवर्ग भी बहुत सजग और सुधि होता था। उसकी तरफ़ से पक्ष-विपक्ष होने में देर नहीं लगती थी। वहाँ भी नहीं हुई। देव आनन्द की फ़ैन मेल में भी इसका ज़िक्र ज़रूर हुआ होगा।

कुछ ही समय बाद सुप्रसिद्ध छायाकार धीरज चावड़ा ‘माधुरी’ के तत्कालीन सम्पादक अरविन्दजी से मिलने आए। धीरजजी को फ़िल्मी सितारे बहुत इज़्जत दिया करते थे। ‘फ़िल्मफ़ेयर’ के कवर पृष्ठ पर उनके खींचे फ़ोटोग्राफ़्स को बहुधा जगह मिलती थी। उन्होंने कहा कि देव साहब विनोद तिवारी से मिलना चाहते हैं। किसलिए यह तो पता नहीं लेकिन उन्होंने विनोदजी से यह कह देने को कहा था। मुझे यह संदेश आपके ज़रिए पहुँचाना ठीक लगा, इसलिए आपको बता रहा हूँ।

अरविन्दजी ने मुझसे पूछा, “जाओगे?”

“ज़रूर जाऊँगा”, मैंने कहा।

“ठीक से सोच लो। वे उस जगह बुला रहे हैं जहाँ पहले की तरह सारा स्टाफ़ उनका होगा। जाने उनके मन में क्या हो! कुछ ऊँच-नीच फिर हो सकती है।”

मैंने जाने के पक्ष में राय जाहिर की। धीरजजी को बता दिया गया।

उन दिनों मुम्बई के जुहू स्थित पाँच सितारा ‘होटल सन एंड सैंड’ में देव आनन्द एक स्वीट लगभग स्थाई तौर पर बुक रखा करते थे। मिलने वालों को वहीं बुलाया करते। मुझे भी वहीं आने को कहा। नियत समय पर मैं पहुँचा। वहाँ उनके सिवाय और कोई नहीं था। वे तपाक से मिले। कुछ देर सिर्फ़ औपचारिक बातों के बाद उन्होंने अपने जाने-माने अंदाज़ में कहा, “विनोद, आई फ़्रील आई ओवर रिऐक्टेड द अदर डे। मैं बस इतना कहना चाहता हूँ कि लेट अस फ़ॉर्गेट द पास्ट एंड बी फ़्रेड्स वन्स अगेन।” इतना कह कर उन्होंने हाथ आगे बढ़ा दिया।

मेरे लिए यह अप्रत्याशित था। मैं शोडाउन की आशंका के साथ आया था और उन्होंने अपनी गरिमा, अपने बड़प्पन, अपनी शालीनता से बाज़ी ही पलट दी। मैं अवाक् रह गया। उसी क्षण यह अहसास हो गया कि शब्दों का चयन करने में मैं जहाँ पीछे रह गया था वहीं ‘सत्यम ब्रूयात, प्रियम ब्रूयात, न ब्रूयात सत्य अप्रियम’ में थोड़ा संशोधन करके वे कह रहे हैं, “सत्य कड़वा ज़रूर होता है लेकिन ज़रा-सी कोशिश से उसे नम्रता के साथ भी कहा जा सकता है।” □



हिन्दी साहित्य का इतिहास एक वैकल्पिक इतिहास की ज़रूरत

देवेन्द्र चौबे

पिछले कुछ दशकों से, खासकर 1990 के बाद हुए साहित्यिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक और आर्थिक परिवर्तनों ने देश की संरचना और बौद्धिक जगत को आधारभूत स्तर पर बदला। दुनियाभर के लोग बदले, समाज बदला, नीतियाँ बदलीं और राष्ट्रों के स्वरूप भी बदले पर, लोगों को लगा कि साहित्य की दुनिया जहाँ से शुरू हुई थी, अब भी वहीं खड़ी है! कल्पना और स्मृति में जबकि साहित्य-संसार भी नई दुनिया के साथ कदम-से-कदम मिलाकर चल रहा था। सवाल है, मुश्किल कहाँ हुई? या वह क्या छूटा जिसे पकड़ने की कोशिश होनी चाहिए थी? हमें लगता है, इन सन्दर्भों को दो स्तर पर देखने की ज़रूरत है : एक, साहित्य की रचनात्मक दुनिया और दो, इतिहास और विचार की समकालीन दुनिया।

साहित्य की रचनात्मक दुनिया तो अपनी गति से चल रही थी तथा वह समय के सवालों से टकरा भी रही थी पर विचार और इतिहास की दुनिया में हम सब या तो पारम्परिक बने रहे अथवा कुछ एक अपवादों— इस सन्दर्भ में हज़ारीप्रसाद द्विवेदी, रामविलास शर्मा, नामवर सिंह, मुक्तिबोध, मैनेजर पाण्डेय, सुमन राजे आदि चिन्तकों के लेखन को देखा जा सकता है। हमारे विचारों और इतिहास की दुनिया 1936 के प्रगतिशील आंदोलन अथवा मार्क्सवादी विचारधारा से आगे जा नहीं पाई जिसे बाद में सबसे बड़ी चुनौती मिली स्त्री और दलित लेखकों से तथा कालांतर में प्रवासी समाज के साथ ही आदिवासी, किन्नर (ट्रांसजेन्डर) एवं एंग्लो-इंडियन आदि जैसे अल्पसंख्यक समुदाय से जुड़े रचनाकारों से भी। प्रवासी 1820 के बाद गिरमिटिया मज़दूर के रूप में मॉरीशस, सूरीनाम, फ़िजी आदि देशों में गए। भारतीय मूल के लेखक अब अपने को 'प्रवासी' की जगह 'आप्रवासी' कहते हैं तथा अपने लेखन को 'आप्रवासी-लेखन।' लेखकों की ओर मुख्यधारा के किसी बड़े आलोचक का ध्यान गया ही नहीं और न ही इतिहास-लेखन में उन्हें ठीक-ठाक जगह मिली। कई इतिहासकारों ने तो अपनी पुस्तकों में प्रवासी लेखक की चर्चा तक नहीं की और अगर प्रगतिशील आंदोलन से थोड़ा हम आगे गए भी तो मंज़िल तक पहुँचने की रस्साकशी में बीच रास्ते में उलझे रहें, जबकि सातवें-आठवें दशक में हुए आंदोलनों

के बाद तो यह दुनिया इतनी तेज़ी से बदल रही थी कि साहित्य के विचारक तो दूर की बात, समाज वैज्ञानिकों के लिए भी उसकी गति को पकड़ना, समझना और व्याख्यायित करना एक मुश्किल कार्य था। यद्यपि भारतीय राजनीति-विज्ञानी रजनी कोठारी, रणधीर सिंह, सबालटर्न इतिहासकार रंजीत गुहा, इतिहासकार के. एन. पणिकर, समाजशास्त्री पी. सी. जोशी, योगेन्द्र सिंह, साहित्य विचारक नलिन विलोचन शर्मा, मुक्तिबोध, फणीश्वरनाथ रेणु, अमृतलाल नगर, रघुवीर सहाय आदि ने 1947 के बाद के सामाजिक-राजनैतिक आंदोलनों के साथ ही इतिहास एवं दर्शन की बारीकियों को समझने की कोशिश की तथा एक हद तक उसका सैद्धांतिकीकरण भी किया, पर बदलाव की यह गति इतनी तीव्र थी कि उसके साथ चलना एक मुश्किल कार्य था। यह एक वैसी ही कोशिश थी जिसे यूरोप और अमरीका में वाल्टर बेंजामिन, एरिक हाब्सबॉम, फ्रेडरिक जेम्स, जॉर्ज बोद्रीयार, हेबरमास, फ्रांसीसी फुकोयामा, रोला बार्थ, मिशेल फूको, ज़ाक देरिदा आदि जैसे चिन्तक कर रहे थे। भिन्न-भिन्न विधाओं के ये चिन्तक अपने समय की नब्ब को पकड़ने की कोशिश कर रहे थे ताकि बदल रही दुनिया के जो नए सच हैं, वे सामने आ सकें। उन्हें ठीक से समझा और महसूस किया जा सका। साथ ही, उन ऐतिहासिक प्रक्रियाओं की व्याख्या भी की जा सके जो वैचारिक दुनिया की वर्चस्वशाली निर्मितियों को समझने में मदद करते हैं। इतना ही नहीं, ये विचारक रहस्यों की उस तह तक भी पहुँचने की कोशिश करते हैं जिनके दरवाज़े की कुँजी कई बार इतिहास के पास ही होती है पर, इतिहास हमसे दूर होता है! यह भी सच है कि इतिहास सच की ही व्याख्या देखे, इतिहास पर केन्द्रित प्रसिद्ध इतिहासकार ई. एच. कार की 'इतिहास क्या है' (1976), मार्क ब्लॉख की 'इतिहासकार का शिल्प' (हिन्दी संस्करण, 2005), एरिक हॉब्सबाम की 'इतिहासकार की चिन्ता' (हिन्दी संस्करण, 2007) आदि विद्वानों की किताबें हैं, जिस पर साहित्य की नींव भी टिकी होती है। यह लोगों का मात्र वहम है कि साहित्य कल्पना है जबकि कल्पना तो एक भाव तत्त्व है, जो साहित्य को अन्य विधाओं से अलग करता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कहते भी हैं, "जो वस्तु हमसे अलग है, हमसे दूर प्रतीति

ई-मेल : devendrachoubeyjnu@gmail.com

होती है, उसकी मूर्ति मन में लाकर उसके सामीप्य का अनुभव करना ही उपासना है। साहित्य वाले इसी को 'भावना' कहते हैं और आजकल के लोग 'कल्पना'। ('रामचन्द्र शुक्ल', 1986 (प्रथम संस्करण, 1939), चिन्तामणि, इंडियन प्रेस, इलाहाबाद)

सवाल है, यह सच क्या है तथा इसे समझना क्यों जरूरी है? यह एक कठिन सवाल है पर, इस सवाल को समझना उतना ही जरूरी है जितना कि यह जानना कि उस सच का उपयोग बौद्धिक समाज किस रूप में और किसके लिए करता है। पर, यह भी सच है कि पिछले कुछ दशकों में ग्रामीण चिन्तन अंतोनियो ग्राम्सी, अनुवादक : कृष्णकांत मिश्र, हिन्दी संस्करण, 2002, 'सांस्कृतिक और राजनैतिक चिन्तन के बुनियादी सरोकार', (ग्रंथ शिल्पी, दिल्ली) या 'उत्तरआधुनिक विचार सारणिया' ('पल प्रतिपल', (समकालीन फ्रांसीसी साहित्य), 1992, आधार प्रकाशन, पंचकुला के प्रभाव और दबावस्वरूप जो अनुशासन सबसे अधिक प्रभावित हुआ, वह इतिहास ही था। यहाँ तक कि विचारक फ्रांसिस फुकोयामा के 'इतिहास के अंत' जैसी धारणाएँ भी आईं।

इस सन्दर्भ में जाँ बोद्रीयार की निम्न किताबें और शोध भी देखे जा सकते हैं : THE END OF THE SOCIAL, 1978 और THE SYSTEM OF OBJECT, 1966.) का यह मत भी आया कि इतिहास अपनी धुरी से छिटककर कहीं दूर चला गया है, अपने समय की पट्टी से उतर गया है। इन बौद्धिक विमर्शों ने न केवल इतिहास के अनुशासन, बल्कि इतिहास चिन्तन तथा लेखन को भी प्रभावित किया। साहित्य का इतिहास इससे अछूता नहीं रहा। जहाँ कुछ दशक पहले तक हिन्दी में साहित्य के इतिहास दर्शन और लेखन पर समग्र विचार-विमर्श होता था, वह इस दौरान थम-सा गया। समग्रता और महाआख्याओं का नकार गुजरे दशकों की एक अन्य महत्वपूर्ण विशेषता रही, जिसमें हिन्दी के पहले मौलिक इतिहास चिन्तक रामचन्द्र शुक्ल ('हिन्दी साहित्य का इतिहास' (पहला संस्करण, 1929) की 'जनता की संचित चित्तवृत्तियों' को व्यापक सन्दर्भों की बजाय स्वायत्त इकाइयों के रूप में देखा जाने लगा। निश्चित ही, इन स्वायत्त इकाइयों की वजह से साहित्य में अलग-अलग सामाजिक इकाइयों का प्रतिनिधित्व बढ़ा और उनका यथार्थ व्यापकता से चित्रित हुआ, लेकिन समग्रता का अभाव उस यथार्थ का महाख्यान रचने में बाधक बना रहा, सहायक सिद्ध न हुआ! एक गम्भीर पहल हजारीप्रसाद द्विवेदी ('हिन्दी साहित्य की भूमिका' (पहला संस्करण, 1940) के इतिहास-लेखन से जरूर हुई, पर उनका भक्ति के उदय तथा कबीर सम्बन्धी कार्य इतना अधिक चर्चित हुआ कि हिन्दी का चिन्तन जगत उससे आगे बहुत अधिक बढ़ नहीं पाया। यहाँ तक कि रामविलास शर्मा और नामवर सिंह जैसे प्रभावशाली आलोचक भी रामचन्द्र शुक्ल बनाम हजारीप्रसाद द्विवेदी और उनके भक्ति साहित्य सम्बन्धी कार्यों के बहाने पहली और दूसरी परम्परा को व्याख्यायित-स्थापित करने में अधिक लगे रहे। यद्यपि उनके लेखन और चिन्तन के केन्द्र में इतिहास रहा तथा उससे हिन्दी पाठकों और अध्येताओं की दिलचस्पी हिन्दी में बढ़ी पर, वे भी रामचन्द्र शुक्ल अथवा हजारीप्रसाद द्विवेदी जैसे इतिहासकारों की साहित्येतिहास लेखन की सीमा में प्रवेश नहीं कर पाएँ। उसके हाशिये पर विचार-विमर्श करते रहें। उसके बाद का हिन्दी जगत भी उनके इर्द-गिर्द घूमता रहा तथा लम्बे समय तक शुक्ल बनाम द्विवेदी और रामविलास शर्मा बनाम नामवर सिंह की खेमाबंदी में लगा रहा। एक बड़ी उम्मीद प्रसिद्ध आलोचक

मैनेजर पाण्डेय से हिन्दी समाज की बनी थी तथा उन्होंने एक हद तक इतिहास सम्बन्धी कार्य किया भी, (मैनेजर पाण्डेय, पहला संस्करण 1982, 'साहित्य और इतिहास दृष्टि', पीपुल्स लिटरेसी, दिल्ली) पर, हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखन की मुख्यधारा से वे भी बाहर ही रहे। प्रसिद्ध लेखक विश्वनाथ त्रिपाठी ने 1986 में 'हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास' (बाद में यह किताब 2007 में 'हिन्दी साहित्य का सरल इतिहास' नाम से ओरिएंट ब्लैकस्वान, दिल्ली से प्रकाशित हुई) जरूर लिखा तथा आज भी यह किताब आचार्य शुक्ल, आचार्य द्विवेदी, नगेन्द्र, रामस्वरूप चतुर्वेदी और बच्चन सिंह के बाद सबसे अधिक पढ़ी जाती है पर जो अंतर्दृष्टि आचार्य द्वय (आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी) की है, उसकी संरचना से आज भी हिन्दी साहित्य का इतिहास-लेखन मुक्त नहीं हो पाया है। आलोचक ए. अरविंदकान, मुरली मनोहर प्रसाद सिंह, रविभूषण, जवरीमल्ल पारख, अजय तिवारी, विनोद शाही, वीरभारत तलवार, कर्मेन्दु शिशिर, वीरेंद्र यादव, आर. जयचंद्रन, राजन नटराजन पिल्लई आदि विद्वानों से अब भी उम्मीदें बनी हुई हैं। अगर इन विद्वानों की तरफ से हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखन की कोई पहल होती है तो वह बड़ी बात होगी।

यह कोशिश पिछले दो दशकों में इतिहास-लेखन के क्षेत्र में खाली हुई शून्यता को थोड़ा टटोलने और कुछ हद तक भरने की कोशिश भर है। ऐसी स्थिति में पाँच खण्डों में आनेवाले इतिहास-लेखन के इस प्रयास को इस नज़रिए से देखने की जरूरत है कि इतिहास-लेखन की ऐसी पहल और सामूहिक दृष्टि साहित्य के इतिहास में दिलचस्पी रखनेवाले पाठकों में इतिहास-बोध अथवा इतिहास की सामूहिक चेतना के निर्माण में किस प्रकार मदद कर सकती है तथा उसे कितना आगे लेकर जा सकती है।

एक महत्वपूर्ण बात इधर यह हुई है कि हाल के दशकों में ही जहाँ हिन्दी साहित्याकाश में अस्मितावादी लेखन की दमदार उपस्थिति हुई जिसमें दलित साहित्य, स्त्री साहित्य और आदिवासी साहित्य ने प्रमुखता से उक्त समुदायों के यथार्थ को अभिव्यक्त किया वहाँ सदियों से चली आ रही पारम्परिक साहित्यिक मान्यताओं तथा पाठों पर भी जोरदार हमले इधर ही हुए। उन्हें व्यर्थ घोषित करने की एक सोची-समझी रणनीति भी तेज़ी से निर्मित बौद्धिक जगत से लेकर अकादेमिक संस्थानों में हुई पर खास बात यह हुई कि इनके साथ ही सामाजिक सरोकारों से युक्त लेखन की अन्य पूर्ववर्ती धाराएँ भी उसी तरह प्रवाहमान होती रहीं जैसे भारतीय ज्ञान की परम्पराएँ औपनिवेशिक काल में वि-उपनिवेशी (DE-COLONIZE) धारा के रूप में चलती रही थी। साथ ही, साहित्य में प्रवासी-लेखन जैसी मज़बूत धाराएँ भी इस दौर में उभर कर आईं और भारतीय इतिहास में चर्चित इतिहासकार रणजीत गुहा के कारण सबाल्टन अथवा शाहिद अमीन एवं ज्ञानेन्द्र पाण्डेय के शब्दों में निम्नवर्गीय प्रसंग दृष्टि का उदय भी इसी दौर में हुआ। इनमें, प्रवासी समाज के लेखन में उनका वह साहित्य भी शामिल है जिनके पूर्वज गिरमिटिया मज़दूर के रूप में 1820 के बाद मॉरीशस, फ़िजी, सूरीनाम आदि देशों में गए और वहीं के होकर रह गए तथा वे भी शामिल हैं जो पढ़-लिखकर स्वाधीनता के बाद विदेश गए तथा अब वहीं अपना डेरा-डंडा बसा लिए। पहले के अंदर जहाँ आर्थिक-सांस्कृतिक अलगाव का विछोह अधिक है, वहीं दूसरे के यहाँ देश से अलग होने का भाव एवं विषम परिस्थिति में भी अपना वर्चस्व स्थापित करने का बोध प्रमुख

है, पर, भारत से लगाव की वह गहरी चेतना स्वाधीनता के बाद विदेश गए पढ़े-लिखे अधिकतर भारतीयों में नहीं है जो प्रवासी मजदूरों में देखी जाती है। इस परिदृश्य ने भारतीय समाज, बल्कि विस्तृत भारतीय समाज के ऐतिहासिक और समकालिक यथार्थ को पाठकों के सामने रखा लेकिन 'विखण्डन' के इस दौर में उस यथार्थ को समग्रता से देखने और उसे ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में रेखांकित करने का कार्य समग्रता से नहीं हो पाया। कुछेक गम्भीर प्रयास मराठी साहित्य चिन्तक चन्द्रभानु वेदालंकार ('हिन्दी साहित्य का सही इतिहास' (पहला संस्करण 1997, एक नई दृष्टि और स्त्री विचारक सुमन राजे ('हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास') (पहला संस्करण 2003) ने स्त्री दृष्टि से ज़रूर किए, पर इनके कार्यों को हिन्दी के अकादमिक जगत ने उतनी गम्भीरता के साथ कभी नहीं लिया। सुमन राजे की उपस्थिति तो स्त्री-लेखन के कारण हिन्दी के बौद्धिक जगत में बनी रही पर, चन्द्रभानु वेदालंकार बौद्धिक जगत में कितने उपस्थिति में है, कहा नहीं जा सकता! यही वजह है कि हिन्दी की समकालीन रचनाशीलता के मद्देनज़र नए इतिहास की कमी हमेशा महसूस की जाती रही। यह अजीब सोच है कि हिन्दी में प्रायः साहित्य इतिहास-लेखन को सुविधानुसार साहित्य तक सीमित कर दिया जाता है और उसके भाषिक, सैद्धांतिक और अन्य सन्दर्भों को उससे अलग कर दिया जाता है जबकि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और आचार्य द्विवेदी अपने इतिहास-लेखन की पृष्ठभूमि में भाषिक, सैद्धांतिक और अन्य सामाजिक सन्दर्भों को आवश्यकतानुसार रेखांकित करते रहे हैं।

दरअसल, जिन सवालों से हम साहित्य पर सोचते हुए दो-चार होते हैं, उनका साहित्य के इतिहास में महत्व रेखांकन एक महत्वपूर्ण कार्य है, जिसके बिना साहित्य के इतिहास का खाका तैयार किया जाना आसान कार्य नहीं है। एक बड़ा सवाल साहित्य के इतिहास का काल विभाजन और भाषा के सवाल को लेकर है। इस सवाल से कमोबेश इतिहास-लेखन की प्रत्येक पीढ़ी टकराती रही है। 'हिन्दी साहित्य का इतिहास : कुछ पाठ, कुछ विचार', खण्ड-1 में काल विभाजन का एक खाका है जिसमें हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक काल की समय-सीमा 768 ई. से 1857 ई. (आदिकाल : 768 ई. से 1318 ई.; भक्तिकाल : 1318 ई. से 1643 ई. और रीतिकाल : 1643 ई. से 1857 ई.) रखी गई थी। आधुनिक काल 1857 ई. से 1947 ई. और समकालीन 1947 ई. से 2020 ई. अर्थात् अब तक (कालविभाजन सम्बन्धी विस्तृत, जानकारी के लिए 'हिन्दी साहित्य का इतिहास : कुछ पाठ, कुछ विचार', खण्ड-1, पहला संस्करण 2021, भूमिका देखी जा सकती है जहाँ इस पर विचार किया गया है।) खासकर, हिन्दी साहित्य के आदिकाल और आधुनिक काल की शुरुआत को लेकर सर्वाधिक बहसें हुई हैं जो अब भी जारी है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इसे अपभ्रंश से जोड़कर 993 ई. से आदिकाल का प्रारम्भ के रूप में देखते रहे हैं पर, बौद्ध कवि सरहपा के सन्दर्भ में पण्डित राहुल सांकृत्यायन के विचार को भी हिन्दी समाज महत्व देता रहा है। इस खण्ड में शामिल युवा अध्येता अजय कुमार यादव और संजय कुमार अपने लेख में आदिकाल से जुड़े इस सवाल पर पुनर्विचार करने की माँग करते हैं तथा इसे 768 ई. से देखे जाने के लिए प्रस्तावित करते हैं। इसी प्रकार, आधुनिक काल को लेकर भी यह बहस होते रही है कि उसकी शुरुआत 1843 ई. से माना जाए या 1850 से अथवा 1857 से, यह एक बहस का मुद्दा है, पर, हिन्दी के अध्येता अब आधुनिक हिन्दी साहित्य की शुरुआत 1857 से मानने लगे हैं। यह एक महत्वपूर्ण बात है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के न मानने के पीछे 1858

और उसके बाद 1878 में कठोर हुआ ब्रिटिश प्रेस ऐक्ट है जिसमें 1857 के उल्लेख मात्र से ही किताबें प्रतिबन्धित हो जाया करती थीं और कई बार लेखक, प्रकाशक और मुद्रक को जेल भी जाना पड़ता था। बावजूद इसके लेखकों ने वैचारिक और रचनात्मक लेखन में समकालीन समय के सच का बयान करना कभी छोड़ा नहीं।

यह एक रोचक और महत्वपूर्ण तथ्य है कि हिन्दी का पहला व्याकरण 1704 ई. में आता है और इसी प्रकार 1803 ई. से फ़ोर्ट विलियम कॉलेज से हिन्दी गद्य के उदय और विकास को रेखांकित किया जाता है। हिन्दी में गद्य लेखन का सम्बन्ध आधुनिकता के उदय से भी जोड़कर देखा जाता है जिसकी चर्चा जर्मनी के भारतविद् रामप्रसाद भट्ट जैसे लेखक करते हैं। दरअसल, इन विचारों का सम्बन्ध सिर्फ़ भाषा और व्याकरण के उदय से ही नहीं है, बल्कि इन्हें आधुनिक काल से भी जोड़कर देखने और उसे स्थापित करने की ज़रूरत है।

इसी प्रकार, पुस्तक में शामिल 1839 ई. में हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखनेवाले फ़्रांसीसी इतिहासकार गार्सा द तासी पर केन्द्रित कोपल का लेख एक नए नज़रिए से लिखा गया है। इस इतिहास के जरिए भारतीय ज्ञान को संगठित करके देखने का उनका नज़रिया इतिहास पर विचार करनेवाली उस दृष्टि की तरफ़ संकेत करता है जो मानता है कि ज्ञान की कोई सीमा नहीं होती। यहाँ एक जिस रीतिकाल की छवि पूरे हिन्दी साहित्य के इतिहास में मुख्यतः शृंगार विषयक मानकर उसे गौड़ दृष्टि से देखा जाता है, उसी काल में 1704 (यह भी माना जाता है कि 1676 ई. में मिर्ज़ा ख़ाँ ने ब्रजभाषा व्याकरण और जॉन जोशुआ केटलर ने 1698 में हिन्दुस्तानी व्याकरण लिखा था। रामप्रसाद भट्ट ने अपने लेख में हिन्दी के प्रारम्भिक व्याकरण पर गम्भीरता से विचार किया है।) में पहला हिन्दी का व्याकरण लिखा जाता है, 1803 में हिन्दी गद्य का उदय होता है, 1826 में हिन्दी का पहला अख़बार 'उदंत मार्तण्ड' आता है, उसी काल में फ़्रांसीसी चिन्तक गार्सा द तासी 1839 में हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखते हैं और 1845 में राज्य शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' बनारस अख़बार निकालते हैं। इसलिए, 1643 से 1857 के बीच का यह रीतिकाल हिन्दी के विद्वान अध्येताओं से ऐतिहासिक दृष्टि से पुनर्विचार करने की माँग करता है। ब्रिटिश या ईस्ट इंडिया कम्पनी के साथ दो बड़े युद्ध भी इसी दौर में होते हैं : एक, 1757 ई. में प्लासी-युद्ध और दो, 1764 ई. में बक्सर के कथकौली, चुरामनपुर, अहिरौली, सोहनीपट्टी, सारीमपुर, अर्जुनपुर, पड़री, नदौव आदि ग्रामीण क्षेत्रों के बीच हुआ बक्सर-युद्ध (यद्यपि 1764 ई. के बक्सर-युद्ध का मुख्य केन्द्र कथकौली गाँव था, पर आस-पास के ग्रामीण क्षेत्र उसकी परिधि पर थे जो इस युद्ध के दौरान प्रभावित हुए। भोजपुरी लोक साहित्य में इनके सन्दर्भ देखे जा सकते हैं।) ये दोनों युद्ध आधुनिक भारत की नींव रखते दिखलाई पड़ते हैं। यहाँ से शुरू हुए ईस्ट इंडिया कम्पनी के राज के बाद यह देश और इसकी आर्थिक, सामाजिक, भाषाई और ग्रामीण संरचनाएँ तेज़ी से बदलनी शुरू हुईं जिसे समझने के लिए भारतीय भाषाओं के लोक साहित्य का अध्ययन करना बहुत ज़रूरी है। मुश्किल यह हुई कि इतिहास-लेखन की दृष्टियों और 1857 ई. के बाद ब्रिटिश राज में बने ऐक्ट एवं क़ानूनी प्रावधानों के कारण हिन्दी साहित्य के इतिहास में भी लोक साहित्य अथवा हिन्दी की सहयोगी भाषाओं (जिन्हें विद्वत समाज 'बोलियाँ' भी कहता है) का साहित्य के इतिहासकारों ने उपयोग नहीं किया, जबकि 1857 या 1803 अथवा यँ कहे कि फ़ोर्ट विलियम कॉलेज के पहले के साहित्य के इतिहास में हिन्दी की बोलियों

और भाषाओं की उपस्थिति दिखलाई पड़ती है। यहाँ तक कि हिन्दी के पाठ्यक्रम में भी हिन्दी में मौजूद हिन्दी की बोलियों और भाषाओं में रचित यह साहित्य आ नहीं पाया। शोध होते रहे, पर ये हिन्दी भाषा और साहित्य के पाठ्यक्रम का हिस्सा नहीं बन पाए। परिणामतः हिन्दी साहित्य, इसका इतिहास और लेखक-समाज भी धीरे-धीरे जन-समाज से दूर हटता गया। कारण, आज भी हिन्दी के शहरी क्षेत्र में खड़ीबोली हिन्दी तो बोली जाती है, पर हिन्दी पट्टी के ग्रामीण क्षेत्र अपनी भौगोलिक संरचना में भोजपुरी, मगही, अंगिका, मैथिली, ब्रज, अवधि, बुन्देली, राजस्थानी, हरियाणवी, पहाड़ी, गढ़वाली, कुमाऊँनी, हिमाचली आदि का उपयोग करते ही दिखलाई पड़ते हैं। पहली बार प्रसिद्ध विचारक रामविलास शर्मा की दृष्टि इस भाषिक संरचना की तरफ गई तथा उन्होंने इन सन्दर्भों का गहराई के साथ विश्लेषण किया।

दरअसल, इतिहास एक विषय ही नहीं, प्रसिद्ध अर्थशास्त्री-दार्शनिक चाणक्य के शब्दों में एक महाविषय है। देश-विदेश के पारम्परिक ग्रन्थों में भी समय-समय पर इतिहास विषयक अध्ययनों के उल्लेख मिलते रहे हैं। लोक में इसका सम्बन्ध आमजन की स्मृतियों के दस्तावेजीकरण से जोड़कर देखा जाता रहा है। इसलिए, मुख्यधारा के इतिहासकार बार-बार उन स्मृतियों की अभिलेखागारों में मौजूद दस्तावेजों से जोड़कर इतिहास-लेखन की बात करते रहे हैं। अतः कई बार इतिहास की संरचना इतनी जटिल और जन समाज के लिए दुरुह हो जाती है कि इतिहास का पहिया चलते-चलते ठहर जाता है पर, यह भी सच है कि ज्योंही हम इतिहास के करीब होते हैं, इतिहास के डोमेन एरिया में बिखरे ऐतिहासिक स्रोत आपस में संवाद करना शुरू कर देते हैं। लोक में बिखरे इतिहास के इन स्रोतों को देखकर लगता है कि हर चीज का और प्रत्येक स्थान का इतिहास हो सकता है, सिर्फ उसे संकलित, व्यवस्थित, व्याख्यायित और स्थापित करने की ज़रूरत है। हो सकता है, हम सब अपने जीवन में इतिहास के स्रोतों से रोज़ाना मुठभेड़ करते रहते हैं, पर सूत्रबद्ध नहीं कर पाते। देखने में लगता है कि कई चीजें छूट गई हैं, पर ऐसा होता नहीं है। उनके इतिहास बनने की एक सतत प्रक्रिया स्मृतियों के रूप में हमारे अंदर चलती रहती है। यह ऐतिहासिक रूप तब लेती है, जब हम सब उस सोच को सामूहिक चेतना का हिस्सा बनाते हैं।

दरअसल, अगर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, पंडित राहुल सांकृत्यायन, चंद्रभानु वेदालंकार और सुमन राजे को छोड़ दें तो हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा बनाए गए इतिहास के ढाँचे से कभी बाहर निकलने की कोशिश ही नहीं की। भाषा और साहित्य के स्तर पर न तो आदिकाल का ढाँचा बदला और न ही अवधी तथा ब्रज से बाहर हिन्दी साहित्य का मध्यकाल आ पाया। वीरगाथा काव्य और मीराबाई के चलते अपभ्रंश, मेवाड़ी आदि तो हिन्दी साहित्य के इतिहास में दिखलाई देती रही, पर वह भी 1857 के बाद ऐसी गायब हुई कि बाद में कभी हिन्दी साहित्य के इतिहास में दिखी ही नहीं! बगल में भोजपुरी, हरियाणवी, बुन्देलखण्डी आदि भाषाएँ पड़ी रहीं, पर कभी उन्हें हिन्दी साहित्य की मुख्यधारा में लाने की कोशिश किसी भी इतिहासकार ने नहीं किया। आधुनिक काल, 1900 ई. तक आते-आते साहित्य के इतिहासकारों ने इतिहास में शामिल मैथिली, अवधि और ब्रज जैसी उन भाषाओं (जिन्हें 'हिन्दी की बोलियाँ' भी कहा जाता है) को भी छोड़ दिया जिनसे कभी हमारा आदिकाल, मध्यकाल और रीतिकाल तथा यहाँ तक कि भारतेंदु कालीन हिन्दी कविता समृद्ध हुई थी।

आधुनिक हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखन के साथ ऐसी मुश्किलें नहीं हैं। उसकी जटिलताएँ कुछ और हैं। यहाँ समस्या एक भाषा (खड़ी बोली) अपनाने और बाहरी चिन्तन के प्रभाव की है कि उसके साथ वि-उपनिवेशी (DE-COLONIZE) रहते हुए भी किस तरह से संवाद किया जाए? आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पाश्चात्य आलोचना और विचारधारा में जो अच्छा है, उन्हें लेने की बात करते हैं, शेष को खारिज करने की। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी संवाद के पक्ष में हैं। मुक्तिबोध का रास्ता अलग है। वे सभ्यताओं से सम्बन्धित चिन्तन के साथ एक लम्बे संवाद के पक्ष में हैं। रामविलास शर्मा, नामवर सिंह, विश्वनाथ त्रिपाठी, मैनेजर पाण्डेय आदि संवाद करते हुए प्रगतिशील चिन्तन को स्वीकारने के पक्ष में हैं। विजयदेवनारायण साही की चिन्ता रचनात्मक अधिक है, कुछ-कुछ आचार्य शुक्ल के करीब। नन्ददुलारे वाजपेयी, नगेन्द्र, रामस्वरूप चतुर्वेदी आदि विद्वान इतिहासकार आलोचक हैं, पर आधुनिक काल को लेकर उनका चिन्तन हिन्दी संस्थानों की शैक्षणिक संरचनाओं के करीब खड़े दिखाई देते हैं। सन्दर्भ अनेक हैं, राह कठिन है, पर यह एक विचारणीय सवाल है कि आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास कैसे समझा और लिखा जाए? यह जितना सरल दिखता है, अंदर से उतना ही जटिल है।

दरअसल, इतिहास की संरचना अत्यंत जटिल होती है, देखने में यह सरल ज़रूर लगती है। 1857 से 1947 के बीच का समय ही एक अलग तरह का समय है। युद्ध, हत्या, हिंसा, लूट, आर्थिक शोषण, दमन, उत्पीड़न, प्रतिरोध, औपनिवेशिक-साम्राज्यवादी शोषण के खिलाफ़ रचनात्मक प्रतिरोध, नई शिक्षा के उदय एवं विकास, सामाजिक संस्थाओं के उदय, सामूहिक चेतन के निर्माण, जन आंदोलन, अहिंसा, असहयोग, एक सेक्यूलर राष्ट्र की सोच, विभाजन, दंगा, कल्याणकारी राष्ट्र के उदय आदि न जाने इतने राजनैतिक उठापटक से भरा यह काल है कि देखकर लगता है कि यह भारत देश कितने तरह के संक्रमण के दौर से गुज़रकर यहाँ तक पहुँचा है। इसलिए, 1857 में ब्रिटिश राज की शुरुआत और 1947 में देश की आज़ादी के बाद अंग्रेज़ी राज की समाप्ति एक नए तरह के वृहत और आधुनिक भारत के उदय, निर्माण और विकास की कथा भी कहते हैं। स्वाधीनता के बाद का समय एक नए राष्ट्र, भारत के उदय का है, पर, अंग्रेज़ी राज से संघर्ष करते हुए भारत में जिस साहित्य का उदय होता है, वह एक अलग तरह से विश्लेषण, मूल्यांकन और ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने की माँग करता है। साहित्य के इस काल के इतिहास के कई दौर हैं, पर मुख्यतः इसे 1857 के बाद एक मज़बूत और निर्मम ब्रिटिश शासन की शुरुआत; 1970 के आस-पास हो रहे सामाजिक-सुधार के आंदोलन, 1885 में कांग्रेस की स्थापना, 1905 के बंगाल के विभाजन, 1917 में गाँधी के राजनीति में आगमन, 1920 के बाद आंबेडकर, भगत सिंह, सुभाषचन्द्र बोस के प्रभाव में शुरू हुए सामाजिक-राजनैतिक प्रतिरोध और 1942 के भारत छोड़ो आंदोलन से जोड़कर देखा जाता रहा है। हिन्दी साहित्य के इतिहास में इस दौर को भारतेन्दु काल (1857-1900 ई.), द्विवेदी काल (1900-1918 ई.), छायावाद/प्रेमचन्द-युग/शुक्ल-युग/प्रसाद-युग (1918-1936 ई.) और 1936 ई. में लखनऊ में प्रेमचन्द की अध्यक्षता में स्थापित प्रगतिशील लेखक संघ के बाद प्रगतिशील काल (1936-1947 ई. और उसके बाद से अब तक यद्यपि 1936 के बाद हिन्दी साहित्य में प्रगतिशील साहित्य का एक नया दौर शुरू होता है जो आज तक चल रहा है परन्तु इस बीच देश की आज़ादी के बाद 1947 से

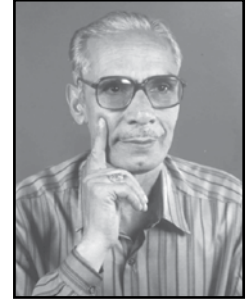
समकालीन दौर की शुरुआत होती है तथा अनेक वाद और आंदोलन आते हैं, जिसके अनेक काल खण्ड हैं। उदाहरण के लिए 1947 से 1967, 1967 से 1990 और 1990 से 2020 (अब तक) अर्थात् समकालीन साहित्य के इतिहास के तीन कालखण्ड हैं। इन पर आगे विचार करेंगे। के रूप में देखने का प्रस्ताव साहित्य के इतिहासकार करते रहे हैं। यह सच है कि हिन्दी साहित्य के इतिहास बनने की प्रक्रिया और समझ इसी दौर में शुरू होती है। जॉर्ज ग्रियर्सन ('द मॉडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑफ हिन्दुस्तान', 1886), मिश्रबन्धु ('मिश्रबन्धु विनोद', तीन भाग, 1913), आचार्य शुक्ल ('हिन्दी साहित्य का इतिहास', 1929) और एफ़. ई. के ('ए हिस्ट्री ऑफ़ हिन्दी लिटरेचर', 1933) के इतिहास-लेखन की अपनी प्रक्रिया इसी दौर में पूरा करते हैं। एक तरह से हिन्दी के पाठकों और चिन्तकों के बीच साहित्य के इतिहास की समझ भी इसी दौर में बनती है। हिन्दी में विश्वविद्यालयों में पठन और पाठन के दौर का काल (सबसे पहले कलकत्ता विश्वविद्यालय में 1918 ई. में एम. ए. हिन्दी की पढ़ाई शुरू हुई फिर, 1920 में बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में।) भी यही है।

कभी प्रसिद्ध आलोचक नामवर सिंह ने आलोचना (आलोचना 28, जनवरी-मार्च 1974 नामवर सिंह के इतिहास सम्बन्धी लेखन, के लिए उनकी निम्न पुस्तक देखी जा सकती है— 'इतिहास और आलोचना', तीसरा संस्करण 1978, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली) में एक लेख लिखा था— 'हिन्दी साहित्य के पच्चीस वर्ष'। इसके समानांतर मैनेजर पाण्डेय ने एक दूसरा लेख लिखा 'स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखन की समस्याएँ', मैनेजर पाण्डेय, प्रथम संस्करण 1981, 'साहित्य और इतिहास दृष्टि', पीपुल्स लिटरेसी, दिल्ली)। इतिहास खण्ड-1 में हम सब इस पर विस्तार से चर्चा कर चुके हैं फिर भी यह कहना ज़रूरी है कि ये दोनों विचारक मानते हैं कि 1947 से देश की आज़ादी के बाद हिन्दी साहित्य में एक नया दौर शुरू होता है। यद्यपि इन दोनों विचारकों के बीच कुछ बुनियादी असहमतियाँ हैं। खासकर, स्वाधीनता के प्रारम्भिक वर्षों के साहित्य सृजन को लेकर। नामवर सिंह मानते हैं कि स्वाधीनता के प्रारम्भिक तीन-चार वर्षों के संक्रांति काल के बाद देश में सांस्कृतिक नवजागरण की एक नई लहर आई, जबकि मैनेजर पाण्डेय मानते हैं कि इस कालखण्ड में देश का बँटवारा हुआ, गाँधी की हत्या हुई, विभाजन के बाद दंगे हुए, तेलंगाना के हज़ारों क्रान्तिकारियों की निर्मम हत्याएँ हुई। दोनों विचारकों के प्रश्न और दृष्टियाँ महत्वपूर्ण हैं, पर यह संवाद-प्रतिवाद यह भी बतलाता है कि देश की आज़ादी के बाद बदलाव बड़े स्तर पर हुआ। साहित्य भी उससे प्रभावित हुआ। हिन्दी की दुनिया बदली। इसलिए 1947 के बाद के परिवर्तन की प्रक्रियाओं पर विचार करने की ज़रूरत है। कारण, जैसे पूरी दुनिया 1944 में दूसरे विश्व-युद्ध के बाद बदलती है, वैसे ही भारत 1947 में देश की आज़ादी और विभाजन के बाद बदलता है। अर्थात् 1944 और 1947 दुनिया एवं भारतीय सन्दर्भ में एक ऐसी विभाजक रेखा है जहाँ से दुनिया और भारतीय राजनीति, भूगोल, इतिहास में बदलाव आना शुरू हो जाता है और इसके पीछे एक तर्क भी है, खासकर, भारत के सन्दर्भ में। वह, यह कि यदि 1857 से ब्रिटिश राज से आधुनिक भारत की शुरुआत होती है तो 1947 में उनके शासन काल की समाप्ति के बाद साहित्य के सन्दर्भ में भी आधुनिक काल के एक दौर के पूरे हो जाने की बात भी सामने आती है। कारण, पूरी दुनिया में आ रही तब्दीलियों के कारण आधुनिकता की दिशा बदलती है और वह उत्तर आधुनिक काल

में प्रवेश करती है। प्रसिद्ध विचारक फ्रेडरिक जॉनसन 1950 के बाद के समय का आकलन करते हुए पूँजी के उत्तर औपनिवेशिक युग में प्रवेश की बात करते हैं तथा पेंटिंग-आर्किटेक्चर जैसी कलाओं के उद्घरण देते हुए इस बात की तरफ़ इशारा करते हैं कि जन संचार/ संस्कृतियों के दबाव में आधुनिकता, पारम्परिक विचारधाराएँ अपना रूप खो रही हैं। भारत में अस्मितवादी उभार को इस नज़रिए से देखा जा सकता है। आज़ाद भारत भी एक नई करवट लेता है। समकालीनता का दबाव बढ़ता है। हिन्दी राजभाषा के रूप में प्रतिष्ठित होती है। साहित्य में नई कहानी, नई कविता, समानांतर कहानी, स्त्री साहित्य, दलित साहित्य आदि का उदय होता है जिनका नोटिस हिन्दी का विद्वत समाज लेता है। कह सकते हैं कि 1857 के संघर्ष के बाद पूरा हिन्दुस्तान बदलता है और 1947 में स्वाधीनता के बाद एक नए भारत का उदय होता है। एक तरह से यहाँ से हिन्दी साहित्य के इतिहास का एक नया दौर शुरू होता है। उस हिन्दी साहित्य का, जिसे बाद में जाकर भारत की राजभाषा बनने का गौरव प्राप्त होता है। दूसरे अर्थों में, वह भारत के जन समाज की राष्ट्रभाषा भी बनती है। उसमें भारत और आम भारतीय समाज की गतिशीलता दिखलाई पड़ती है और इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि 1947 के बाद भारत, एक नया और समकालीन भारत बनता है लेकिन, यह नया भारत गुलाम 1947 के पहले जैसा गुलाम नहीं था। इसकी मुश्किलें अलग तरह की थीं। 1947 के बाद का यह भारत आज़ाद है। यह एक नया दौर है। इसके अपने सपने भी हैं और सामने खड़ा चुनौती देता समकालीन यथार्थ भी जिसके साहित्य के इतिहास को नए तरह से लिखने और समझने की ज़रूरत है। स्वातन्त्र्योत्तर साहित्य के रूप में, जैसाकि विश्वनाथ त्रिपाठी अपने 'हिन्दी साहित्य का सरल इतिहास' और सुमन राजे 'हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास' में लिखती हैं। एक नए तेवर और कुछ चार प्रश्नों के साथ!

यह एक कठिन प्रश्न है! खासकर सुमन राजे द्वारा उठाए गए सवालों को लेकर। जो सन्दर्भ 1947 के बाद के साहित्य के इतिहास-लेखन को लेकर नामवर सिंह देते हैं और जो सवाल मैनेजर पाण्डेय खड़ा करते हैं, वे विशेष बहस की माँग करते हैं। वहाँ विचारधारा का प्रश्न एक बड़ा प्रश्न है। बिना विचार के न तो साहित्य होता है और न ही विचारधारा के इतिहास। इतिहास-लेखन की पारम्परिक से लेकर अनेक पद्धतियाँ और दृष्टियाँ हैं। यूरोप और अमरीका में हुए वैचारिक आंदोलनों का गहरा असर हिन्दी साहित्य के इतिहास पर दिखलाई देता है। भारत में भी स्त्री, दलित, मज़दूर, किसान और अन्य अस्मितवादी समाज एवं लेखन को लेकर जो सामाजिक आंदोलन होते हैं, वे समकालीन भारत की एक भिन्न छवि निर्मित करते हैं। 1947 में देश का विभाजन और सांप्रदायिक दंगे, 1956 में आंबेडकर का हिन्दू धर्म छोड़कर बौद्ध धर्म अपना लेना, 1967 में शुरू हुआ नक्सलवादी आंदोलन, 1989 में मण्डल कमीशन को लेकर हुए आंदोलन तथा 1992 के बाद शुरू हुए आर्थिक उदारीकरण और भूमंडलीकरण के प्रश्न समकालीन भारत को समझने में बहुत मदद करते हैं। इन्हें समझे बिना समकालीन भारत को समझना मुश्किल है, इतिहास-लेखन तो दूर की बात है। ऐसी स्थिति में समकालीन क्या, पूरे हिन्दी साहित्य का इतिहास-लेखन एक कठिन कार्य दिखलाई देता है।

निश्चित रूप से इतिहास-लेखन एक जटिल, कठिन और चुनौतीपूर्ण कार्य है लेकिन इतिहास के मुद्दों पर विचार करना उतना ही ज़रूरी है जितना कि साहित्य की दुनिया का चलते रहना। □



अनूप शर्मा भारतीय सांस्कृतिक चेतना के कवि

सुधांशु चतुर्वेदी

अनूप शर्मा एक सिद्धहस्त कवि तो थे ही, एक कुशल मंचीय शब्दशिल्पी, अच्छे प्रवक्ता, प्राध्यापक, पत्रकार, स्वतन्त्रता-सेनानी, गाँधीवादी अहिंसक सत्याग्रही, देशभक्त, परम्परावादी, पुनरुत्थानवादी भारतीय-आत्मा भी थे। उनमें कवि माखनलाल चतुर्वेदी-सा तेजस्-भाव व्याप्त था। महाकवि अयोध्यासिंह उपाध्याय जैसा नवीनता के प्रति मोह था तथा जगन्नाथदास 'रत्नाकर' जैसी भावभरित काव्य एवं कथन-प्रवणता थी। वे पलायनवादी नहीं थे। 'वर्द्धमान' और 'सिद्धार्थ' जैसे महाकाव्यों की रचना करने पर भी उनके आदर्श तीर्थंकर महावीर तथा महामना गौतम-बुद्ध नहीं थे। अपितु वे गृहस्थाश्रम को श्रेष्ठ मानते थे। दायित्वपूर्ण जीवनयापन को उच्चादर्श मानते थे। उनके आदर्श महात्मा गाँधी थे। वीर-काव्य-शिरोमणि होते हुए भी वे हिंसा को जीवन का आदर्श नहीं मानते थे। उनके काव्यों में ज़िन्दगानी के अनेक रंग मिल जाएँगे। वे शृंगार के, सौन्दर्य के, भोग के, लोकमत के विरोधी नहीं थे। अनूप शर्मा ने जीवन में सफलताओं का अमृत चखा था तो असफलताओं का विष भी पिया था। उन्होंने लगभग 67 वर्ष की आयु पाई थी। उनका रचनाकाल लगभग 45-50 वर्षों तक एक दीर्घसूत्री सृजन-काल रहा है। वे एक सहज उद्भावक थे। सीता तथा राम के लीलाविहार के तदनन्तर उनके पुनर्तिरोधन को लेकर अनूप शर्मा जैसा कवि ही सहज शब्दों में बड़ी सरलता और मासूमियत के साथ गा सकता था, 'घनाक्षरी' में कह सकता था—

“भूमि से निकल सीता भूमि में समाई और
व्योम से उतर राम व्योम में चले गए।”

इतनी साफ़-सुथरी भाषा में इतनी सहजता के साथ छंदस अभिव्यक्ति जितनी मैथिलीशरण गुप्त में देखने को मिलती है, उतनी खड़ी बोली हिन्दी के दूसरे कवियों में नहीं मिलती। अनूप शर्मा का

हिन्दी भाषा पर अनूठा अधिकार था। हिन्दी का अतुलनीय शब्द-भण्डार उनके पास था। खड़ी बोली शब्दभंडार की दृष्टि से अनूप को सहज ही जायसी, तुलसी, प्रसाद, निराला, मैथिलीशरण, बिहारी, देव, केशव, दिनकर की परम्परा में रखा जा सकता है। महिषामर्दिनी दुर्गा पर 'शर्वाणी' ग्रन्थ रचकर वह हिन्दी साहित्य में एक अनूठा मुकाम हासिल कर गए हैं। यहाँ घनाक्षरी छंद में विरचित एक उदाहरण दिया जाता है, जो महिषासुरमर्दिनी देवी कात्यायनी के उस बिम्ब को यथावत मूर्तिमन्त कर देता है, जैसाकि हम देवी के मन्दिर में, उनकी भव्य प्रतिमाओं में देखते हैं। चित्रों और कैलेंडरों में देखते हैं, जो प्रकारान्तर से 'भारतमाता' की शक्ति का पर्याय है। भारतीय दर्शन एवं भारतीय शाक्तिभावित सांस्कृतिक चेतना में न्यस्त भारत की ऊर्जा का, उसकी रंगात्मक प्रवृत्ति का, असुरनाश की भाव-भंगिमा का प्रतीक है। शब्द-चित्र यूँ है—

‘अधर तरंग-भंगिमा की भजते ही रहे,
होती रही कंपमान कुंचित भ्रुवों की हद
रोम-शक्ति संचित उदचित, बने ही रहे
छाया रहा रक्तिम मुखारविन्द में भी मद
गया कर में त्रिशूल भी तना का तना,
वसुधा विलोडित विलोक के जपा का

नद

बैठा बरिबंड महिषासुर के मुण्ड पर,
प्रबल प्रचण्ड अचलेश-नंदिनी का पद।’

उक्त शब्दबिम्ब कितना सटीक, सार्थक, अभिप्रायगर्भित है। देश की सांस्कृतिक भावधारा का विगोपन करता है। कितनी सहजता तथा साफ़गोई के साथ खड़ी बोली हिन्दी में महाकवि अनूप शर्मा ने आद्याशक्ति-कात्यायनी के नैय्यायिक-बिम्ब को उभार दिया है तथा यह संदेश देने का प्रयास किया है कि हर दुरात्मा आततायी, शोषक, निरंकुश शास्ता तथा आतंकवादी का अंत भारत-भू पर ऐसे ही होगा जैसेकि महिषासुर मर्दिनी ने किया था।



हिन्दी भाषाभाषी मध्यदेश अर्थात् संयुक्त प्रान्त (वर्तमान उत्तर प्रदेश) के जिला सीतापुर के अंतर्गत नवीनगर में जन्म 5 सितम्बर, सन् 1899 ईसवी में एक सम्पन्न परिवार में, पण्डित बद्रीप्रसाद त्रिपाठी के घर अनूप शर्मा का जन्म हुआ था। अनूप को प्रकृत्या ही निसर्ग से काव्यशक्ति और अभिव्यंजना कौशल के संस्कार मिले और अभ्यास, अध्ययन तथा व्यवहार के कारण वे शनैः-शनैः काव्य-रचना एवं मंचीय रचना-प्रस्तुति में प्रवीण होते चले गए। वाग्देवी बचपन से ही उन पर मेहरबान थीं। हास्य, विनोद, नटखटपना, छेड़खानी, खिलंदड़पना, निर्भीकता, हठधर्मिता, अकूत कर्मठता, स्वाभिमान, परदुःखकातरता, मन का ओज, स्पष्टवादिता, अलमस्ती तथा खूब रहस्य, धमकने, विहँसने और जोराजोरी करने की प्रवृत्ति, ये तमाम चारित्रिक एवं आचरणमूल गुण अनूप शर्मा में बचपन से ही पामाल होते चले गए थे, जो आगे चलकर उनके गुरु-गम्भीर साहित्यिक व्यक्तित्व में भली-भाँति प्रकट हुए। वस्तुतः उन्होंने काव्य को नहीं गढ़ा था, 'काव्यदेवता' ने उनको गढ़ा था। पूरे हिन्दी साहित्य में घनाक्षरी छन्द में इतना विपुल काव्य रचनेवाला कोई दूसरा कवि नहीं हुआ है, यहाँ तक कि चन्दबरदाई तथा तुलसी भी परिमाण की दृष्टि से इतनी घनाक्षरियों की रचना नहीं कर सके, जितनी घनाक्षरियाँ अनूप शर्मा ने रची हैं। घनाक्षरी में अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से अपनी बात वही कह सकता है, जिसके पास कहने के लिए बहुत कुछ होता है और जो बहुत दूर तक छन्द को और छन्द की ध्वनि को थामकर ले जा सकता है। जिस महाकवि में जितना अधिक रसकोश होता है, जितना ज्यादा ओज होता है, वह उतना ही घनाक्षरी में (या अनुष्टुप छन्द अथवा दोहा-चौपाई, कवित्त, सवैया छन्द में भी) स्वयं को अभिव्यंजित कर सकता है और यह महारत अनूप शर्मा को हासिल थी। इसीलिए वह पाठ्य-कवि से पहले मंचीय महाकवि अधिक थे। महाकवि भूषण की तरह वे श्रोताओं पर छा जाते थे। अरस्तू-प्लटो की भाषा में कहें तो 'रेटरिक' के उस्ताद थे।

सांगीतिक शब्द-ध्वनि, रस-ध्वनि अर्थात् के निष्णात उद्भावक थे। काव्य-पाठ निमित्त जब वे मंच पर उतरते थे, तो श्रोताओं को ऐसा लगने लगता था मानो रुद्र का 'नाराच' चल रहा हो। अनूप का समकालीन विश्वविख्यात भारतीय बैले नर्तक उदयशंकर के शब्दों में भाव-भावित हाव-भाव-हेलामूलक आंगिक नृत्य का मंचीय रुद्राभिषेक कर रहा हो। अनूप शर्मा काव्य-मंच के 'भरतमुनि' बन जाते थे। उनकी वाणी से जब ओज फूटता था तो छांदस्-ब्रह्म की समस्त शृंगारवृत्ता राग-रागिनियाँ अपनी देह-विगोपन के लिए उत्कंठिता हो अनावृत्त होने लगती थीं। अनूप शर्मा 'वीर रस' के साथ-साथ 'शृंगार रस' के भी महाकवि थे। 'लास्य' और 'ताण्डव' दोनों पर उनका समान अधिकार था। अनूप शर्मा के युग में यह महारत केवल दूसरे हिन्दी-कवि सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' को ही हासिल थी। उनके दौर के तमाम बड़े-से-बड़े कवि / महाकवि, शायर इस कला में उनसे काफ़ी पिछड़े हुए थे। शृंगार-रस-प्रधान रचनाओं में अनूप शर्मा केशवदास का नव्य संस्करण लगते थे और वीर रस प्रधान रचनाओं में महाकवि भूषण का नवावतार थे।

अनूप शर्मा एक कुशल अध्यापक, प्राचार्य, प्रबंधक तथा अनुशासनकर्ता थे। आकाशवाणी, लखनऊ से भी जुड़े। अनूप शर्मा बक़ौल आकाशवाणी कलाकार जगदीश चन्द्र माथुर, नगेन्द्र, चिरंजीत, अली सरदार जाफ़री, अमृतलाल नागर, भगवती चरण वर्मा, बालकृष्ण

शर्मा 'नवीन', मोहन सिंह सेंगर, सी.एच. आत्मा, बलराज साहनी, देवकीनंदन पाण्डेय, फ़ैज़ अहमद फ़ैज़, जानकी वल्लभ शास्त्री, गिरिजाकुमार माथुर, माखनलाल चतुर्वेदी, बनारसीदास चतुर्वेदी, विष्णु प्रभाकर जैसे साहित्यकारों एवं कलावन्तों के सम्पर्क में भी आए थे। सज्जाद ज़हीर, काज़ी नज़रुल इस्लाम और कैफ़ी आज़मी से भी उनका टकराव हुआ था। अनूप शर्मा एक निर्भीक पत्रकार भी थे। प्रकाशन, लेखन, सम्पादन, मुद्रण-प्रबन्धन में भी माहिर। उन्होंने खुलकर लिखा, खूब लिखा, खूब गाया, सबको छकाया और अंततः खुद ही खामोश भी हो गए। उन्होंने अनेक महाकाव्य, खण्डकाव्य, एकार्थ काव्य लिखे। स्फुट छन्द रचे, कविताएँ रचीं। 'शर्वाणी' जैसा स्फुट छन्दों में भाव-भरित 'स्तवन काव्य' लिखा। गद्यपद्यमय ब्रजभाषा में 'चम्पू' काव्य 'फेरि मिलिबो' लिखा। उनके द्वारा विरचित कुछेक उपलब्ध रचनाओं के शीर्षक हैं 'सुनाल' (खण्डकाव्य), 'सिद्धार्थ' (महाकाव्य) 'वर्द्धमान' (महाकाव्य), 'अग्निपथ' (खण्डकाव्य), 'फेरि मिलिबो' (चम्पू काव्य), 'शर्वाणी' (स्तवन काव्य), 'विराट संग्राम' (लम्बी कविता), 'सुमनांजलि' (काव्य-संग्रह) आदि।

'सिद्धार्थ' महाकाव्य की रचना 'एरनॉल्ड' की 'लाइट ऑफ़ एशिया' कृति के प्रभाववश की थी। यह अनूप शर्मा कृत प्रथम प्रकाशित महाकाव्य है। नाथूराम 'प्रेमी' के सहयोग से सन् 1937 में बम्बई ग्रन्थ रत्नाकर से इसका प्रकाशन हुआ था। यह 18 सर्गों में रचा गया है। यह एक सिद्धहस्त कवि की खड़ी बोली में संस्कृत वर्णवृत्तों में लिखी गई रचना है। भाषा तत्सम है। 'हरिऔध' के 'प्रियप्रवास' सदृश भाषा पलंब, समासयुक्त, क्लिष्ट एवं इतिवृत्तात्मकता लिए हुए है। सिद्धार्थ के रंगभवन का वर्णन अत्यन्त भावप्रवण शैली में किया गया है। यशोधरा के शृंगारिक भावविलास का वर्णन अत्यन्त मनभावक एवं रसात्मक है। गृहत्याग तथा संबोधि का प्रभात वर्णन अत्यन्त कारुणिक है। यह आधुनिक काव्य है। प्रभात पर अमिताभ अर्थात् भगवान् बुद्ध के सतो गुणी स्वभाव का प्रतिबिम्ब पड़ता है, फलस्वरूप सिद्धार्थ के संबोधि से सारा विश्व प्रकाशवान हो उठता है। कवि ने अत्यन्त रमणीक वाणी में तथागत बुद्ध के सूर्यतेजसम प्रभाव का वर्णन किया है। अनूप शर्मा के भाषिक संस्कार में ब्रजभाषा का संपुट काफ़ी मात्रा में है। संस्कृत भाषा के 'यदा', 'तदा' आदि अव्ययों के प्रयोग के साथ-साथ ब्रजभाषा के 'पे', 'के' (पर, कर के स्थान पर) शब्दों का खुलकर प्रयोग किया है। 'लोनी', 'बिलोक', 'बिहाय' जैसे शब्द भी खुलकर प्रयुक्त किए गए हैं। विशेषण और विशेष्यों के प्रयोग में संस्कृत की भाँति लिंग-साम्य प्रयोग-प्रवृत्ति भी 'सिद्धार्थ' में भरपूर मिलती है। पूरे काव्य में अभिधावृत्ति का संपुट ज्यादा है। फिर भी जगह-जगह रसात्मकता तथा वाग्विदग्धता का सौन्दर्य भावोद्दीपन का कार्य करता दीख पड़ता है।

'फेरि मिलिबो' शीर्षक से विरचित गद्य-पद्य मिश्रित 'चम्पूकाव्य' है। यह रचना सन् 1938 ई. में प्रकाशित हुई थी। यह संस्कृत में काव्य-रूप की दृष्टि से ऐसी रचनाओं को 'चम्पूकाव्य', 'गद्यपद्यमय काव्य' चम्पूरित्यभिधीयते' कहा गया है। मैथिलीशरण गुप्त विरचित 'यशोधरा' एक चम्पूकाव्य है। संस्कृत भाषा एवं साहित्य में चम्पूकाव्य खूब रचे गए हैं। जयशंकर प्रसाद कृत 'उर्वशी' हिन्दी का सन् 1909 में प्रकाशित प्रथम चम्पूकाव्य माना जाता है लेकिन इससे पहले भी संस्कृत साहित्य के अनुकरण पर हिन्दी में चम्पूकाव्य लिखे जाते रहे हैं। पारसी

नाट्यमंडलियों, बंगाल की जात्रा नाटक मंडलियों एवं ब्रजभाषा की रासनाट्य मंडलियों में 'चम्पूकाव्य' काफ़ी लोकप्रिय रहे हैं। राजस्थान की 'काष्ठपुत्तलिका' (कठपुतलियों) के खेल की कथात्मक प्रस्तुतियों में भी चम्पूकाव्यतत्त्व के लक्षण ढूँढे जा सकते हैं। इस चम्पूकाव्य के वस्तुतत्त्व का आधार 'श्रीमद्भागवत' का वह कारुणिक घटना-प्रसंग है, जब राधा ब्रजप्रदेश से गोप-गोपियों की टोली के साथ प्रभास क्षेत्र में द्वारिकाधीश भगवान् कृष्ण की नगरी द्वारिकापुरी में जाती हैं और एक लम्बे अरसे के बाद अपने अंतरंग सखा कृष्ण का ही साक्षात्कार नहीं करती हैं, अपितु कृष्ण-पत्नी 'रुक्मिणी' से भी दुःचार होती हैं और बिना किसी सौतिया डाह के रुक्मिणी के साथ अपने बहनापे को जुड़ते हुए पाती हैं। पूरा काव्य 'प्रकरण वक्रता' का श्रेष्ठ उदाहरण है। रुक्मिणी भक्तिरस की शिरोमणि 'राधा' के महत्तम निहँतु की साधनामूलक दिव्य भक्तिभाव को देखकर चमत्कृत हो जाती हैं। उससे महारास, गोप-गोपी-भाव तथा राधा-तत्त्व का रहस्य समझ में आ जाता है। अंश-अंशी मिलन के महाभाव का अनिर्वचनीय रसानन्द इस काव्य में देखने को मिलता है। अनूप शर्मा ने इसकी रचना करते समय इसमें काव्यशास्त्रानिहित रचनाधर्मी नियमों के पालन का पूरा-पूरा ध्यान रखा है। शास्त्रानुसार पंचसंधियों, अर्थप्रकृतियों, रीतियों, अलंकारों के प्रयोग पर पूरी पकड़ बनाए रखी गई है। इसकी मुख्य भूमिका में नारद, कृष्ण, रुक्मिणी तथा राधा हैं। इसमें पाँचाली वृत्ति (नाट्यवृत्ति) का प्रयोग किया गया है। प्रसाद एवं माधुर्य गुण आद्यन्त परिव्याप्त हैं। 'ओजगुण' से इसे मुक्त रखा गया है। कृष्ण धीरोदात्त नायक हैं। 'फेरि मिलिबो' का आरम्भ 'राधिका छन्द' से होता है। हित-हरिवंश समायोजित 'राधावल्लभी संप्रदाय' में राधाजी की राधा तत्त्व की सर्वव्यापिनी महत्ता असंदिग्ध है। 'फेरि मिलिबो' राधावल्लभी संप्रदाय की गुण-ग्राहकता का 'चम्पूकाव्य' है। यँ पूरे ग्रन्थ में रोला छन्द छाया हुआ है। इसमें घनाक्षरियाँ नहीं हैं। पूरी रचना में छन्द निनादित होता रहता है। जिस तरह ध्वनि कभी नहीं मरती, हतंत्री जीवन-पर्यन्त धड़कती रहती है। सृष्टि से स्पन्दन कभी समाप्त नहीं होता, उसी प्रकार मिलन-बिछुड़न, गति-अनगति के चरण-चिह्नों की तरह निरन्तर संचरणशील रहते हैं। राधा और कृष्ण परस्पर विभक्त होकर भी अद्वैतभावेन बराबर गोप-गोपी-महारासरूपेण आत्मबद्ध रहते हैं। अंशी अंश से बार-बार वियुक्त होकर भी मिलता रहता है कृष्ण की रुक्मिणी अपने सर्वस्व, अपने प्राणवल्लभ 'कृष्ण' के पतित्व में 'राधा तत्त्व' के इसी भाव का संधान देखती है। इसमें ब्रजभाषा में उपलब्ध दूसरे मात्रिक और वार्णिक छन्द भी रचे गए हैं। यह ग्रन्थ अनूप शर्मा की काव्य-साधना, रचनाधर्मिता, उनके अध्ययन के आयाम, उनकी कल्पना-प्रवणता एवं शब्द-शिल्पकला तथा भाव और नाद-योजना की गरिमा को प्रमाणित करता है। हिन्दी में इस टक्कर का गद्यगीत (चम्पू नहीं) केवल 'साहित्यदेवता' नामक ग्रन्थ ही रचा गया, जिसे आज का हिन्दी जगत् भुला बैठा है।

अनूप शर्मा के स्फुट छन्दों तथा पद्यात्मक रचनाओं का एक संग्रह-ग्रन्थ एक एन्थोलॉजी 'सुमनान्जलि' शीर्षक से सन् 1939 में प्रकाशित हुआ। इस पर छायावाद का प्रभाव है। सम्राट् अशोक के पुत्र कुणाल के त्रासद प्रसंग को लेकर अनूप शर्मा ने एक खण्डकाव्य लिखा था 'सुनाल'। सन् 1925-26 में विरचित इस खण्डकाव्य का प्रकाशन मैथिलीशरण गुप्त के प्रकाशन-गृह साहित्य सदन, चिरगाँव, झाँसी से

सन् 1929 ई. में हुआ था। इस कृति में कश्मीर के इतिहास का वर्णन भी है। इसका कथानक ऐतिहासिक है। प्रकृति-वर्णन में अनूप शर्मा अपने पूर्ववर्ती संस्कृत-कवियों अथवा सेनापति जैसे विशुद्ध प्रकृति-प्रेमी सिद्धहस्त कवियों की तरह ही प्रवीण थे।

अनूप शर्मा की प्रतिभा का चूड़ान्त परिचय उनके महाकाव्य 'वर्द्धमान' में देखने को मिलता है। जिस प्रकार राजस्थानी हिन्दी में 'भारतेश्वर बाहुबलिरास' नामक डिंगल काव्य अपनी महाकाव्यात्मकता में अप्रतिम है, उसी प्रकार अनूप शर्मा का यह महाकाव्य कलागत अभिव्यंजना अथवा अभिव्यंग्य के सौन्दर्य से समन्वित एकदम अनूठा है, अनुपम है। भारतीय ज्ञानपीठ से इसका प्रकाशन सन् 1951 ई. में हुआ था। 24वें तीर्थंकर जिनाचार्य महावीर स्वामी (जैन धर्म-दर्शन के अंतिम पुरोधा) प्रस्तुत महाकाव्य के महानायक हैं। महावीर धीरोदात्त नायक हैं। सम्पूर्ण कथावृत्त प्रख्यात है। 17 सर्गों में भगवान् महावीर स्वामी के सम्पूर्ण जीवन-वृत्त को उकेरा गया है। संस्कृत के वर्णवृत्तों को लिया गया है। इसमें कुल 1997 छन्द हैं। वंशस्थ, द्रुतविलम्बित, मालिनी आदि छन्द हैं। अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' कृत 'प्रियप्रवास' और 'वैदेही वनवास' की तर्ज पर इसका ताना-बाना बुना गया है। इसके चौथे, पाँचवें, छठे, सातवें तथा ग्यारहवें सर्ग काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से पठनीय हैं, अनुपम हैं। जैसे धर्म, दर्शन की तात्त्विक मीमांसा को जानने-समझने के लिए तेरहवें, चौदहवें तथा सत्रहवें सर्ग को खँगालना होगा। इसमें रागात्मकता का रंग कुछ फीका है क्योंकि जैन धर्म का शुचितावाद तथा महावीर स्वामी की वीतरागी वृत्ति कवि को कुछ ज्यादा खुलकर अभिव्यक्त हो पाने की अनुमति नहीं देती। यह भावकाव्य कम है, विचारकाव्य ज्यादा है।

रामवृत्त को लेकर अनूप शर्मा विरचित एक अन्य काव्य-ग्रन्थ 'अग्निपथ' भी उल्लेखनीय है। इसमें 529 गीतिका छन्द हैं। यह दुःखान्त है। इसमें वर्णित सीता अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' के 'प्रियप्रवास' की राधा के समान ही समाजनिष्ठ सिंहनी-सेविका है। इस कृति में नाटकीयता का संपुट बहुत है। हिन्दी में परवर्ती रामवृत्त काव्य प्रभूत मात्रा में लिखे गए, इनमें नरसी मेहता का नाम बड़े आदर से लिया जाता है। कुबेरनाथ राय का नाम भी लिया जाता है। मेहता-कृत परवर्ती राम काव्य, रामकथा प्रकीर्णक के प्रकरण-वक्रतामूलक अत्यन्त रसात्मक खण्डकाव्य है। कुबेरनाथ राय के रामकथा-विषयक वर्णन गद्यात्मक हैं। दोनों के मूल में अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' के 'वैदेही वनवास' तथा पण्डित अनूप शर्मा के 'अग्निपथ' की सीता के स्वरूप को कथावृत्त-प्रेरक के रूप में देखा जा सकता है।

महात्मा गाँधी के विलक्षण चरित्र को लेकर लिखे गए वाडय में अनूप शर्मा कृत महाकाव्य 'गाँधीचरित' को रखा जा सकता है। लगभग 300 पृष्ठों में विरचित यह महाकाव्य महात्मा गाँधी के कर्माश्रित जीवन-वृत्त को समेट लेता है। मैथिली छन्द में विरचित यह महाकाव्य बड़ा विलक्षण है। इसका नायक नारायणीय व्यक्तित्व न होकर नाराशंसी व्यक्तित्व है। वह भारतीय संस्कृति का आधुनिक अग्रदूत है। कवि उसके अहिंसा-दर्शन का क्रायल है। वह गाँधी में बुद्ध और महावीर की छवि देखता है। अपनी घनाक्षरियों में भरत पुरुष, भारतीय संस्कृति के वैश्वानर 'महात्मा गाँधी' के विलक्षण व्यक्तित्व का मूल्यांकन करते

....पृष्ठ 43 पर जारी



कवि उद्भ्रान्त विलक्षण काव्य-साधना का अथक यात्री

दिनेश कुमार माली

इसी माह 4 सितम्बर 2023 को जीवन के पचहत्तर वर्ष पूर्ण करने जा रहे हिन्दी के शिखर कवियों में से एक उद्भ्रान्तजी अपने काव्य गुरु हरिवंशराय बच्चन की 'मधुशाला' की एक पंक्ति 'राह पकड़ तू एक चला चल, पा जाएगा मधुशाला' को उद्धृत करते हुए अक्सर कहा करते हैं, अवश्य ही, ईश्वर की अनुभूति के लिए कठोर साधना की आवश्यकता होती होगी, मगर अपने जीवन काल में किसी एक मनुष्य को भी पूरी तरह से जानना किसी साधना से कम नहीं है। अगर किसी रचनाकार को आप जानना चाहते हैं तो आपको उसकी समग्र रचनाधर्मिता, रचना-प्रक्रिया और संवेदनाओं के ज्वार-भाटा के मध्य से होकर गुजरना पड़ता है। मैंने उद्भ्रान्तजी को कई बार देखा, अलग-अलग रूप में, तो पता चला कि कवि की कविताओं की सृजन-भूमि के बीज कथानक, कथ्य-शैली, विषयवस्तु और अंतर्वस्तु भारतीय संस्कृति की धुरी के इर्द-गिर्द बिखरे हैं और उनकी रचनात्मकता पर अपने घर-परिवार के धार्मिक परिवेश और सामाजिक विद्रूपताओं और विसंगतियों का गहन प्रभाव पड़ा है, जो उनकी आत्म-कथा 'मैंने जो जिया' के दोनों खण्डों से भी स्पष्ट होता है। यही वजह है कि उस कुंठा, हताशा, संघर्ष और आक्रोश ने उनके भीतर जीवनधर्मी चेतना को जन्म दिया। अपनी कविता 'अपने को काटते हुए' में उन्होंने इस आक्रोश को प्रकट किया है—

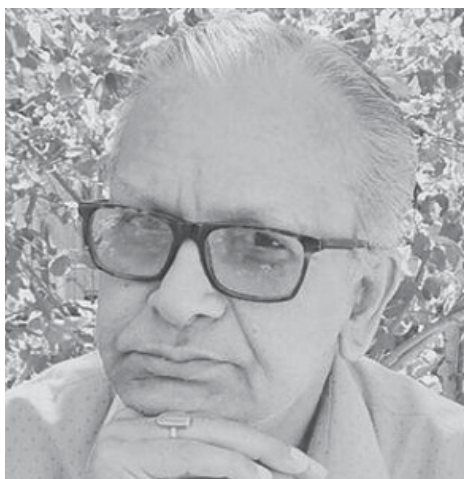
'मुझे कविता के हथियार से चिढ़ होती जा रही है/ क्योंकि इस/ हथियार की धार कुन्द है/चूँकि अब मुझे इस हथियार के निकम्मेपन का पता चल गया है/ चूँकि इसकी बेचारगी का मुझे पूरा-पूरा आभास हो गया है/ इसलिए मैं इसे अँधेरे में फेंक रहा हूँ' ('सदी का महाराज', पृष्ठ 61)।

जिस तरह कवि असंग घोष की कविता 'अरे ओ! कनखजूरे' में बिम्ब के माध्यम से समाज में शोषण तथा पाखण्ड प्रदर्शन करने वाली व्यवस्था पर करारा प्रहार किया गया है, ठीक उसी तरह कवि

ने अपनी कविताओं में असामाजिक तत्त्वों तथा पैसों के दमखम पर व्यभिचार व भ्रष्टाचार में लिप्त घृणास्पद आदमकद तिलचट्टों की ओर संकेत किया है। ये तिलचट्टे बस स्टॉप, रेलवे स्टेशन, बाज़ार, राह पर चलते शहर में कहीं भी मिल जाते हैं। उनकी कविताएँ युगों-युगों से दलित वर्ग के प्रति हो रहे अन्याय, शोषण व भेद-भाव को उजागर करने वाली अत्यंत मर्मांतक तथा हृदयस्पर्शी हैं। उनकी कविताओं में ईश्वर प्रदत्त सुनियोजित सुन्दर प्राकृतिक व्यवस्थाओं को प्रदूषित करने वाले तत्त्वों को पहचानने की एक अंतर्दृष्टि है। अधिकतर कविताएँ दलित-विमर्श केन्द्रित हैं। 'चर्मकार' कविता में इस सन्दर्भ में उच्च जाति वालों के आत्म-ग्लानि के स्वर प्रस्फुटित हुए हैं,.... 'साले चर्मकार'/ निकली आवाज़ कुछ ऐसी कि जैसे/ सदियों से दबे-कुचले व्यक्ति के मुख से/ अपने शोषक के प्रति निकली हो/ प्रतिहिंसा और नफ़रत भरी...' ('शेष समर', पृष्ठ-264)।

और इन सामाजिक विद्रूपताओं और विसंगतियों से अत्यंत दुखी होकर कवि ने अपनी कविता 'ईश्वर एक विचार है?' में ईश्वर के अस्तित्व और दुनिया में हो रहे अत्याचार, भेद-भाव, वर्ग-भेद तथा मुख्यधारा से विमुखता पर अपने आक्रोश को प्रदर्शित किया है, इन शब्दों में — 'घड़ी-घड़ी/ दिन-प्रतिदिन/ जिस नामालूम ईश्वर का/ जाप करते रहते हम/ वह आखिर था कहाँ' ('शेष समर', पृष्ठ-420)।

इसी तरह स्त्री-विमर्श केन्द्रित कविता-संग्रह 'इस्तरी' में कवि ने नारी के मन की व्यथा को प्रकट किया है और नर-नारी में विभेदता, सशक्तीकरण बाल-विवाह जैसे कई मुद्दों को उठाया है, जिसमें समाज और परिवेश की सीमाएँ 'लक्ष्मण-रेखा' के रूप में मुँह उठाए खड़ी हैं। इसी तरह नर-नारी में विभेदता को देखकर पक्षपाती ईश्वर के प्रति भी कवि का मन एक अदृश्य क्षोभ से भर उठता है और वह कहने लगता है कि नारी समुद्र है, नारी ईश्वर है, नारी पृथ्वी है। नारी जीवन के विभिन्न



पहलुओं को उजागर करते इस संग्रह में 'स्त्री की जगह', 'इस्तरी', 'तलाक! तलाक!', 'जानी-पहचानी धुन', 'स्त्री-प्रकृति', 'बेटियों की आँखों में सपने', 'झिलमिलाते रंग', 'कामकाजी घरेलू', 'एक औरत', 'अधेड़ होती औरत', 'स्वेटर बुनती स्त्री', 'सिन्दूर', 'बेटियों की माँ', 'स्त्री-शक्ति', 'नई मनुस्मृति', 'स्त्री, समुद्र, ईश्वर, पृथ्वी', 'विद्रोहिणी का बयान', 'असमानुपात', 'डायन', 'एक थी सुरसती' प्रमुख हैं। यही नहीं, जिस तरह प्रेमचन्द ने अपने उपन्यास 'सेवा सदन' में वेश्याओं पर कलम चलाई है, उद्भ्रान्तजी ने भी अपनी कविता 'तवायफ़ 1-2' में उनके जिस्मानी सौदों को घृणित न बताकर पुण्य बताया है, जिससे कामुक समाज की रक्षा की जा सके। उनकी कविता 'तवायफ़-1' के कुछ अंश—

'अपनी उपस्थिति से/बचा लेती है/कामोद्दीप्त समाज को/आग में जलकर/राख होने से!उसकी दो अँगुल जगह में/ समूची सृष्टि की पवित्रता,/ घंटे, घड़ियाल,/ मृदंग और मँजीरे,/ मन्दिर और मस्जिद/ और गिरजाघर,/ सम्पूर्ण धार्मिकता,/ मजहबी तहजीब,/ अपने-अपने/ खुदा और ईश्वर/और गुरु और क्राइस्ट' ('शेष समर', पृष्ठ-333)

अंग्रेजी लेखक जान ग्रे की बहुचर्चित पुस्तक 'Why Mars and Venus Collide ?' में आदमी और औरत में पारस्परिक कलह व टकराहट होने के मनोवैज्ञानिक कारणों की समानता व समरूपता इस कविता में स्पष्ट नज़र आती है। नैसर्गिक प्रेम वृक्ष के उजड़ने, वासना रूपी अरण्यों के घनीभूत होने, विश्वास के पहाड़ों के किनारों के ढह जाने, नर्म बालुई मिट्टी जैसे अहसासों के खुरच जाने, कोमल भावों के जल-स्रोतों के सूखने के साथ-साथ पग-पग पर जहाँ बेवजह बंधनों का बोझ अगर किसी स्त्री पर डाला जाता है तो दुनिया की कोई भी औरत अस्तित्वहीनता का अनुभव करेगी। तब अशांत मन, कराहती वेदना और साजिशों का शिकार बनती उस औरत के पास बिफरने के सिवाय और क्या चारा रह जाता है! ऐसे ही कारण जान ग्रे ने अपनी पुस्तक 'व्हाय मार्स एंड वीनस कोलाइड?' में दर्शाए हैं। 'स्त्री विमर्श' के रूप में उद्भ्रान्तजी का यह कविता-संग्रह उल्लेखनीय है।

'ज्यों केले के पात में, पात-पात में पात', वैसे ही उद्भ्रान्तजी की कविताओं में गहरा रहस्य उद्घाटित होता है। जैसे-जैसे उनकी कविताओं से पाठक गुज़रता है, वह एक के बाद एक भूल-भुलैया के रास्तों की तरह भिन्न-भिन्न संवेदनाओं व सरोकारों के साथ नूतन बिम्बों, भाषायी प्रयोग व शैलियों से सम्पुष्ट होकर अभिनव सौन्दर्य-बोध का परिचय कराती उनकी कविताओं के भँवरजाल में फँसता जाता है। हिन्दी के वरिष्ठ कवि नन्द किशोर आचार्य के अनुसार भी लेखक अक्सर अपनी रचनाधर्मिता के दौरान दो दुनियाओं का सामना करता है--एक भीतरी दुनिया और दूसरी, बाहरी दुनिया। भीतरी दुनिया का साम्राज्य भी वैसा ही है जैसाकि बाहरी दुनिया का, मगर अंतर है तो केवल पात्रों का तथा स्पृश्यता का। बाहरी दुनिया के पात्रों को स्पर्श किया जा सकता है, मगर भीतरी दुनिया के पात्रों को नहीं। यह बात दूसरी है कि संयोगवश वे पात्र हकीकत की दुनिया में प्रवेश कर अंतर्जगत् के सुख-दुख, व्यथा, हँसी-खुशी का इज़हार कर सकते हैं, मगर ऐसा होने पर भी क्या हकीकत से मुँह मोड़ा जा सकता है? जो सत्य है, वह सनातन है और रहेगा, अविनाशी है और रहेगा मगर जो झूठ है, उसका कभी भी अस्तित्व नहीं रहेगा। अपनी कविताओं में न केवल उद्भ्रान्त ने आध्यात्मिक चेतना के स्वर मुखरित किए हैं, वरन अपनी भीतरी दुनिया की कार्यशैली से अपने दार्शनिक व्यक्तित्व का भी परिचय करवाया है। इस तरह देखा जाए तो उद्भ्रान्तजी का चिन्तन काफ़ी व्यापक है। जहाँ वे पशु-पक्षियों, मनुष्यों, मानवीय मूल्यों, सामाजिक विद्रूपताओं-विसंगतियों से उपजी

वर्ण व्यवस्था, आध्यात्मिक, दार्शनिक और दलित-विमर्श सम्बन्धित कविताएँ लिखते हैं, वहीं वे जैव-मैत्री, स्त्री-अस्मिता कविताओं पर भी कविताएँ लिखने से नहीं चूकते।

उद्भ्रान्तजी की कविताओं में सिर्फ़ निराशा, नकारात्मकता, वेदना या विक्षोभ नहीं, बल्कि आशा, जिजीविषा, मनुष्यत्व की जीत एवं शुभ-विश्वास भी उनकी कविता के लक्ष्य हैं। उनकी कविता में चेतना के स्वर मुखरित होते आते हैं, वे हैं भ्रष्टाचार और वर्तमान सिद्धांतविहीन राजनैतिक व्यवस्था के खिलाफ़ आवाज़ बुलंदी के। प्रखर राजनैतिक चेतना वाली कविताओं की तरह कवि अपनी कविताओं जैसे 'अयोध्या 1 से 7', 'गालियाँ 1 से 4', 'पेपरवेट', 'बाबा मार्क्स, गाँधी बाबा', 'नई मनुस्मृति', 'गिरगिट' आदि के द्वारा संवेदनशील पाठकों के सोए हुए ज़मीर को जगाने, अर्थ के दल-दल से उबारने, जनता की सिसकियों की थाप को अनसुनी करने वाली व्यवस्था को समूलरूप से उखाड़ फेंकने, देश के सुन्दर भविष्य को आहत होने से रोकने के लिए दल-बदल राजनीति की दीमक बाँबी को तोड़ने और कलियुग की लपेट में आए शापित इंसान के खून को उद्वेलित कर अपने प्रतिबद्ध सामाजिक उत्तरदायित्व का निर्वहन करते हैं।

'चूहे', 'गाय', 'कौवा', 'मक्खियाँ', 'आवारा कुत्ते', 'कॉक्रोच', 'सूअर', 'खच्चर', 'चमगादड़', 'केंचुआ', 'मकड़ा', 'तितली का सपना', 'छिपकली', 'अथ उलूक कथा', 'गिरगिट', 'चींटियाँ', 'गिलहरी' आदि कविताओं में साधारण शब्दों के प्रयोग ने उनकी काव्यात्मकता में निखार ला दिया है। वह कविता को सिर्फ़ शब्दों का आडंबर बना देने के पक्ष में नहीं हैं। उनका मानना है कि कविता में जीवन का प्रवाह होना चाहिए। नैसर्गिकता होनी चाहिए, जीवन्तता होनी चाहिए और सबसे बड़ी बात तो कविता को सरल होना चाहिए, सर्वग्राह्य होना चाहिए। यही इनकी कविताओं की खासियत है। उनकी कविताओं में वैविध्य है, प्रेम की विविध अनुभूतियों का भी चित्रण है।

कवि की कविताएँ क्षणिक भावुकता जगाने वाली नहीं हैं कि बस एक कविता पढ़ी और रो दिए! एक कहानी पढ़ी और विचलित हो गए! उनकी कविताएँ स्थायी भाव की कारक हैं, जिन्हें पढ़ने के बाद हमें बाहरी दुनिया की पीड़ा समझ में आने लगती है और हम उसके यथार्थ के प्रति विचलित होने लगते हैं। 'वसुधैव कुटुंबकम्' की अवधारणा का अनुकरण करते हुए कवि की कविताएँ देश-प्रेम की परिधि से और अधिक विस्तीर्ण होकर तथा विस्तृत ईश्वरीय सत्ता के प्रति प्रेम का प्रदर्शन करती हुई आध्यात्मवाद की ओर ले जाती हैं।

इस तरह कवि मार्क्सवाद और नास्तिकता से ऊपर उठकर समाज के बारे में चिन्तन करता है मगर यह भी यथार्थ है कि सरकार के अथक प्रयासों के बाद भी आज भी हमारे समाज में सामंतवादी-प्रथा देश के विभिन्न भागों में बीच-बीच में अपनी कुरूपता का प्रदर्शन करती रहती है। जातिवाद आज भी कल्पनातीत है। कवि ईश्वर को मन्दिर, मस्जिद, गिरजाघर और गुरुद्वारे में नहीं ढूँढकर मजदूरों के गेंती-फावड़ों में, शिल्पियों के छैनी-हथौड़ों में, पथभ्रष्ट होते शिष्य को शिक्षक की शिक्षा में, भूख की आकुलता में, प्रौढ़ अंधे की लाठी बनी तरुणी के रूप-लावण्य में, अनाथाश्रम में अनंत ममता लुटाती माँ के ममत्व में, जिन्दगी और मौत से जूझ रहे व्यक्ति को बचाने के लिए रक्तदान करते युवक के रक्त में, किसी अबला की अस्मत् बचाने की खातिर पत्थरों से लहलुहान हुए वृद्ध आदमी के हृदय में प्रेम और इंसानियत को अक्षुण्ण रखने वाली आत्मा में खोजते हैं। यहीं कृष्ण का उपदेश 'मत्स्थानि सर्वभूतानि' तथा

....पृष्ठ 50 पर जारी



पतंगबाज़ी

प्रेमकुमार गौतम

टेलीविजन पर चल रही खबरों में एक खबर पतंगबाज़ी की भी थी जिसे देख क्या बच्चे, क्या बूढ़े सभी की आँखें चमक उठी थीं। खबर का असर और दृश्य ही कुछ ऐसा था। ऐसा कौन शख्स होगा जिसने अपनी बाल्यावस्था में कंचे न खेले हों, पतंग न उड़ाई हो। क्या आचार्य, क्या प्रधानाचार्य, सभी का बचपन खुली धूप, हवा और मैदानों के गैर मशीनी खेल खेलते बीता होगा। मशीनें तो खैर तब थोड़ी-बहुत थीं ही लेकिन खेल मशीनी नहीं थे। मशीनी मनोरंजन के नाम पर एक अकेला रेडियो भर था, लेकिन वह भी किसी खेल में प्रयोग नहीं होता था। फ़रमाइशी फ़िल्मी गीत, बिनाका गीतमाला और समाचार के अलावा खेलों की कमेंट्री सुनने में लोगों की अधिक रुचि रहती थी। यह तब की बात है जब मनुष्य ने चाँद पर क़दम नहीं रखा था। ग्रामोफ़ोन और साइकिलें किराए पर चला करती थीं। गणेश टेम्पो और डायल टेलीफ़ोन प्रचलन में थे। प्रतियोगिताएँ पतंग और कैरम की हुआ करती थीं। हाँ, ये वही समय था जब आकाश चूमती पतंगों को हर आँख निहारा करती थी। ठीक वैसे ही जैसे आज भी हवाई जहाज़ या हेलीकॉप्टर की आवाज़ सुन हम इंटरनेटयुगी लोगों की आँखें अनायास आसमान की ओर उठ जाया करती हैं। शहर में सिनेमाघर ज़रूर गुम हो गए हों किन्तु पतंगों की दुकानों का वजूद आज भी कायम है। पतंग और पतंगबाज़ी में सियासत न तब थी और न अब नज़र आती है।

तो जनाब पतंगबाज़ी की खबर में एक हीरो भी नज़र आ रहा था। पतंगबाज़ी की राष्ट्रीय प्रतियोगिता का हीरो निशांत गौतम : पतंगबाज़ निशांत गौतम। “खेलोगे कूदोगे बनोगे खराब, पढ़ोगे लिखोगे बनोगे नवाब” राष्ट्रीय पतंगबाज़ी प्रतियोगिता का प्रथम पुरस्कार ग्रहण करने

राजधानी में मंच पर खड़े पतंगबाज़ निशांत ने बुजुर्गों और गुरुजनों की इस कहावत को आधारहीन सिद्ध कर दिखाया था। आसमान की बुलंदी मापती कागज़ी पतंगों को हिकारत से देखने वाले पढ़ाकुओं को निशांत की प्रसिद्धि देख ईर्ष्या हो रही थी। तमाम भारी-भरकम डिग्री, डिप्लोमा लादे दफ़्तर-दफ़्तर फिरते नौजवानों का क़द सिर्फ़ पाँचवीं पास पतंगबाज़ ने बौना बना दिया था। ‘जेंटलमैन’ कहे जाने वाले उच्च शिक्षित नौजवानों ने पतंगबाज़ी का स्वर्ण पदक प्राप्त करते, निशांत



के गर्वित चेहरे को देख स्वयं को दीन-हीन महसूस किया। ‘रहिमन देख बड़ेन को लघुन दीजिए डार, जहाँ काम आवे सुई कहाँ करे तलवार’। मुख्य अतिथि ओलम्पियन आशुतोष ने अपने उद्बोधन से जब कागज़ी पतंगों के हुनरबाज़ों को प्रतिष्ठा प्रदान की तो सभागार तालियों की गड़गड़ाहट से गूँज उठा। समारोह में विशेष रूप से आमंत्रित निशांत के शिक्षक शिवमूरत सिंह की आँखों में खुशी के आँसू और हृदय में ग्लानि के भाव थे। उन्हें विश्वास नहीं हो रहा था कि कक्षा में पीछे बैठकर शरारतें करने वाला, मार-डॉट खाने वाला दुबला-पतला उनका फिसड्डी छात्र मंच पर स्वर्ण पदक थामे खड़ा दिखाई देगा। ठीक इस वक़्त निशांत को

बधाई देने वालों की भीड़ और उसके मास्टरजी शिवमूरत सिंह को बीते दिनों की स्मृतियों ने घेर लिया था।

“निशांत गौतम”, “जी सर”, “जी सर के बच्चे ये क्या है?... जीरो अंडा फ़ेल। लो पकड़ो ये रिज़ल्ट और दे देना अपने पिताश्री को।” कक्षा पाँच का परीक्षाफल हाथ में थमाते हुए शिवमूरत मास्टर साब का व्यंग्य वाक्य सुन निशांत का चेहरा बुझ-सा गया था। वह कक्षा और घर पढ़ाई का भरपूर प्रयास करता, लेकिन रात को पढ़ा हुआ सुबह भूल जाता।

ई-मेल : sundar.singhjanshi1212@gmail.com

पतंग-चरखी के सिवाय और कुछ याद न रहता। सोते-जागते पतंग, पतंग, पतंग। बस पतंग ही नज़र आती। यहाँ तक कि उसकी नींदों में सपने भी आते तो पतंग के ही आते। “मास्टरजी, ये निशांत हैं न-पतंग बहुत अच्छी उड़ा लेता है। बड़ों-बड़ों से पेच लड़ाता है। चार-पाँच पतंगें रोज़ काटता है ये निशांत।” मास्टरजी के मुँह लगा लखन जब निशांत के हुनर की तारीफ़ करता तो मास्टरजी उसे घूर कर देखते फिर उपहास उड़ाते, “पतंग से पेट नहीं भरेगा बच्चा, न ज़िन्दगी कटेगी। पढ़ना-लिखना ही काम आएगा। पतंग उड़ाकर कोई गोल्ड मैडल तो जीत न जाओगे, ये फ़ालतू का खेल छोड़ो, पढ़ाई-लिखाई में मन लगाओ।” मेज़ पर पेपरवेट घुमाते हुए मास्टरजी की नज़रें सर झुकाए बैठे निशांत पर जा टिकतीं। “तुमने वो कहावत तो सुनी ही होगी, खेलोगे-कूदोगे बनोगे ख़राब, पढ़ोगे लिखोगे बनोगे नवाब। अरे ये पतंग-फतंग कभी किसी के काम आई है जो तुम्हारी आएगी? देखना एक दिन बहुत पछताओगे, तब मुझे याद करोगे।” फ़िलहाल मंच का मंज़र उनके कहे के ठीक उलट था। मंच पर मुस्कुराता विजयी और सफल उनका छात्र निशांत खड़ा था। पतंग का हुनर ही उसके काम आया था। उसने पतंगबाज़ी के स्वर्ण पदक को यूँ थाम रखा था जैसे मुंशी प्रेमचन्द के पात्र हामिद ने लोहे के मामूली चिमटे को मिट्टी के कमज़ोर खिलौनों के सामने मज़बूती से थाम रखा हो। कागज़ की मामूली पतंग कक्षा के सबसे कमज़ोर छात्र को सोने का तमगा दिला देगी, यह कल्पना मास्टरजी क्या समूचे स्कूल ने कभी न की थी। श्रेष्ठता का यह सम्मान किसी स्कूली डिग्री से कम न था।

मंच की कार्यवाही के बीच मास्टर शिवमूरत सिंह पुनः स्मृतियों में खो गए थे। यही निशांत पढ़ाई की कमज़ोरी की ग्लानि लिए कक्षा में सबसे पीछे बैठा दिखता। बैठा क्या दिखता, बैठा दिया जाता। कक्षा में आगे बैठने का हक़ और परम्परा तो होशियार छात्रों की ही रहती आई है। बुझा चेहरा लिए बैठे निशांत की इच्छा होती, वह भी आगे की डेस्क पर बैठे, सराहना पाए। मास्टरजी उसकी भी पीठ थपथपाएँ। कक्षा के सहपाठियों का ज़िज़र हो, तालियाँ गूँजें, पर ऐसा कभी न हुआ जब भी आए उसके हिस्से में डाँट-फटकार, मार-उपहास और निराश करते शब्द ही आए। कक्षा के छात्रों का भी व्यवहार उसके प्रति रूखा रहता। सब उससे दूर-दूर, कटे-कटे से रहते। पतंगबाज़ न हुआ जैसे मुज़िरम हो गया। आकाश की ऊँचाई पर टिकी पतंग का संदेश किताबी ज्ञान के

अभिमान में चूर कोई व्यक्ति भला क्या समझेगा? प्रेस के कैमरों की चमक से जगमग निशांत का चेहरा जैसे विनम्र व कृतज्ञ भाव से कह रहा हो, “गुरुवर कभी गुरु द्रोण ने भी धनुषधारी एकलव्य और कर्ण को तुच्छ, अपात्र मानकर उपेक्षा की थी। परमाणु की शक्ति विशाल पर्वत से कमतर नहीं होती, पहाड़ों को यह अहसास कभी होता ही नहीं देखा गुरुवर! आप कहते थे न कि पतंग में कोई गोल्ड मैडल हासिल नहीं कर सकता। देखिए आपके इस नालायक शिष्य के हाथों में पतंग ही का गोल्ड मैडल है।” मास्टरजी को प्रतीत हुआ जैसे वे अपने ही बाणों से बिंध गए हो। गुरुवर क्षमा करें। छात्रों से अधिक स्वर्ण पदक खिलाड़ियों के पास होंगे, अनपढ़ खिलाड़ियों के पास खेल दिवस के जनक महान हॉकी खिलाड़ी मेजर ध्यानचंद, शिक्षक दिवस के जनक डॉक्टर राधाकृष्णन के मुकाबले बहुत अल्प शिक्षित ही थे, लेकिन फिर भी खेल दिवस का मान शिक्षक दिवस से कम तो नहीं।” आपने कैसे कह दिया ‘खेलोगे, कूदोगे बनोगे ख़राब?’ शिष्य का शिक्षक से मौन प्रश्न जिसे पतंगबाज़ निशांत ने अपने गुरुवर से कभी नहीं पूछा था लेकिन आज यह प्रश्न मुखर था।

मीडिया का फ़ोटो सेशन अब समाप्त हो चुका था। शिष्य की स्मृतियों में खोए मास्टर शिवमूरत सिंह को पता ही नहीं चला कि सम्बोधन में कौन क्या बोल रहा था। स्मृतियों की निद्रा को मंच संचालनकर्ता की पुकार और उनके शिष्य निशांत के हाथों की छुअन ने भंग किया था। मास्टरजी के चरण-स्पर्श करता उनका क्राबिल शिष्य निशांत निवेदन की मुद्रा में उनके समक्ष खड़ा था। “गुरुवर आप मुझे अब तो आशीर्वाद दे दीजिए। आइए, अपने शब्दों से मुझे अपना स्नेह दीजिए।” मास्टर शिवमूरत सिंह को समझ नहीं आ रहा था कि अपने पतंगबाज़ शिष्य को आशीर्वाद दें या उसकी उपेक्षा, उपहास पर खेद प्रकट करें। उन्होंने एक पतंग लाने का इशारा किया और फिर शिष्य द्वारा लाई पतंग पर अपने कलम से लिख दिया, ‘खेलोगे-कूदोगे बनोगे नवाब।’ प्रेस के छायाकारों ने गुरु-शिष्य के इस अद्भुत दृश्य को अपने कैमरों में कैद कर लिया। सुबह शहर के प्रमुख अखबार में प्रथम पृष्ठ पर ख़बर छपी थी ‘पतंगबाज़ शिष्य को गुरु का अनूठा आशीर्वाद।’ ख़बर के साथ निशांत की पतंग की फ़ोटो भी प्रकाशित थी। शहर के लोगों ने ऐसी ख़बर जीवन में पहली बार पढ़ी थी। □

भारतीय सांस्कृतिक...

पृष्ठ 39 से आगे

हुए अपने मनस्थ साहित्य-देवता को महात्मा गाँधी के चरणों में पूर्णाहुत कर देता है।

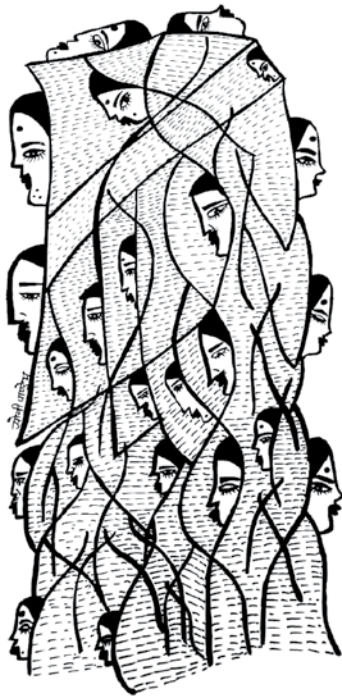
इस तरह संस्कृतगर्भित तत्समप्रधान खड़ी बोली हिन्दी में हज़ारों घनाक्षरियों तथा कवित्त-सवैय्यों में भारतीय संस्कृति का सारस्वत गान करने वाले महाकवि अनूप शर्मा अपने युग के धरातल पर अपनी अमिट छाप छोड़कर आज से लगभग पचपन वर्ष पहले महाप्रयाण कर प्रस्थान पथ पर चले गए लेकिन अपने विपुल साहित्य राशि के रूप में रसात्मक काव्य का जो क्षीर-सागर वे हमें अर्थात् आगामी पीढ़ियों के लिए छोड़ गए, उसे कृतघ्न हिन्दीवालों ने भुला दिया। उस क्षीर-सागर का दुग्ध पान करने से स्वयं को वंचित कर लिया। अनूप शर्मा के काव्य को विद्यालयी एवं विश्वविद्यालयी पाठ्यक्रम तक से बाहर कर दिया गया।

वस्तुतः अनूप शर्मा द्विवेदीयुगीन हिन्दी काव्य-प्रवृत्तियों से युक्त इतिवृत्तात्मक प्रकृति की काव्य-शैली के महान कवि थे। अयोध्यासिंह उपाध्याय ‘हरिऔध’ की तरह वे संस्कृत वर्णवृत्त-निष्णात कवि थे। रस, वृत्ति, संधि गुण आदि के शास्त्रीय भाव-विन्यास एवं शब्द-विन्यास में माहिर तथा चमत्कार उत्पन्न करने की कला में निष्णात महाकवि अनूप शर्मा जब मंच पर आते थे, तो कवि-गोष्ठियों में समीं बाँध देते थे। सूफ़ी-साधकों में यह गुण आम था। इसीलिए निश्चिततया सम्प्रदाय, कलंबरी सम्प्रदाय के सूफ़ियों में ‘समीं’ शब्द एक पारिभाषिक अर्थ-गौरव पा गया था। यहाँ इसी अर्थ में ‘समीं’ शब्द का प्रयोग किया है। महाकवि अनूप शर्मा की स्मृति को शत-शत नमन है। □



बाबा और बाबू

देवेन्द्र आर्य



ई-मेल : devendrakumar.arya1@gmail.com

(एक)

दो बच्चे खेल रहे हैं

दो बच्चे खेल रहे हैं
एक का नाम बाबा है
दूसरे का बाबू

दो बच्चे खेल रहे हैं
एक के लिए खेल ही जीवन है
दूसरे के लिए जीवन खेल

एक खेल खेल के सीख रहा
दूसरा सीखे-सिखाए को खेल में मिला रहा
एक के लिए मिट्टी खेल है
दूसरे के लिए सारा खेल मिट्टी

एक की उम्र चढ़ रही है
दूसरे की बढ़ रही है
एक को फुनगी तक जाना है
दूसरे को जड़ों में समाना है

एक का खेल है बाबा
दूसरे का बाबू

दो बच्चे खेल रहे हैं
एक के दाँत निकल रहे हैं
दूसरा निकलवा रहा है
दोनों के मिलकर बत्तीस हैं

एक ने बोलना शुरू किया निरर्थक
दूसरा बोल-बोल कर हो चुका निरर्थक
एक भाषा सीख रहा है
दूसरा भूल रहा है

एक के पास ढेरों खिलौने हैं
दूसरे के पास सिर्फ एक खिलौना

दो बच्चे खेल रहे हैं
एक पहली बार
दूसरा अंतिम बार।

(दो)

दोनों उदास थे

जा रहा था बाबू नानी के यहाँ
मन अटक के रह गया
बाबा के पास

जाने क्या था उसकी उन मासूम आँखों में
ग्लैशियर-सा मैं पिघलता रह गया।

उम्र ही क्या है,
मगर आभास था जैसे
उसके चेहरे पर विदा की शाम थी

कुछ अजब सी हरकतें थीं
बाबू की
आने वाली दूरी का अहसास हो जैसे

कुछ अजब ही ढंग से
दुलरा रहा था वह
कि मुझको रोक लो बाबा
कि तुम कैसे रहोगे मेरे बिन
मैं तो फिर भी
दूसरों की लाड़ में बह जाऊँगा

बोल सकता तो
वो क्या कहता मुझे !
रोना मत
वरना मैं रोऊँगा बहुत

बाबा
इतना प्यार मत करना मुझे
सालती रह जाए बाबू की कमी

आँसू पी लेना ही एक चारा था बस
जाओ बाबू
खुश रहो मामा के घर। □



आत्मसंवाद

अशोक कुमार



ई-मेल : akgautama2@gmail.com

मेरे भीतर कोई है जो मुझ-सा नहीं है
वो मुझे संशय से
देखता है
वो मुझसे पूछता है कि क्या यह भाषा और ये
रास्ते मेरा अपना चुनाव है ?

मैं कुछ देर ठहर कर सोचता हूँ
और पाता हूँ कि मैं
जि स भाषा में प्रार्थनाएँ पढ़ता हूँ उसमें रोता
नहीं हूँ
मैं सीखी हुई भाषा में
जितना वाचाल हूँ
अपने में उतना ही मौन

सम्भावनाओं से भरी इस सड़क पर
चलते हुए मेरे पाँव
अंधविश्वासों के कीचड़ में सने हैं
मैं गड़ों को भरने के बजाय आसमान में सीढ़ी
लगाना चाहता हूँ।

आना तो ऐसे आना

आना तो ऐसे मत आना
जैसे बाड़ा तोड़ घुस आती हैं गायें
और चर जाती हैं
घास, फ़सलें और फूल

जैसे आते हैं अंधड़
और गिरा देते हैं औंधा
घर, पेड़ और छप्पर

आना तो ऐसे आना
जैसे तराई तक पहुँचते-पहुँचते
शान्त हो जाती हैं नदियाँ

जैसे अपने गंतव्य पर पहुँचने से पहले
कुछ देर विश्राम करता है
लम्बी और कठिन यात्रा पर निकला यात्री
पहाड़ों पर जब भी आना

तो बेशक साथ ले आना
अपने सारे ताप, सारी पीड़ाएँ और सारा ज्वर
हमने सदियों की शीतलता बचा रखी है यहाँ।

पहाड़

उस दिन घर से निकलते हुए
मैं उदास नहीं हुआ
ढलानों के साथ
मेरे आँसू नहीं ढलके
पगडंडियों ने मेरे पैर जकड़े तो सही
किन्तु मैं रुका नहीं

बरामदों से कुछ हाथ
विदाई के लिए हिले थे
और कुछ आशीष के लिए
मुझे वो हाथ अपने हाथों में लेकर
उस प्रेम को महसूस करना चाहिए था
जो मैंने नहीं किया

उस दिन मेरी आँखों में बनावटी खुशी थी
होटों पर मिथ्या मुस्कान
और कदमों में अजीब-सी लड़खड़ाहट
क्योंकि मैं जनता था
यह मेरा हासिल नहीं, मेरा पलायन है

उस दिन सिर्फ पहाड़ नहीं छूटे थे
ऊँचाइयाँ छूटी थीं
गहराइयाँ छूटी थीं
रिश्ते छूटे थे, प्रेम छूटा था
और साहस भी छूटा था

पहाड़ के छूटते ही मैंने महसूस किया है
चढ़ाइयों से मुश्किल रोज़ की ज़रूरतों का
संघर्ष
बर्फ़ से भी सर्द,
यह अनवरत भागती जिन्दगी
पहाड़ों से दूर होकर मैंने महसूस किया है
जीवन का पहाड़ हो जाना। □



न पूछो आजकल

अशोक अंजुम



ई-मेल : ashokanjumaligarh@gmail.com

(एक)

न पूछो आजकल क्या कर रहा हूँ
मैं गिर-गिर कर तजुरबा कर रहा हूँ

मेरी कोई खामोशियाँ चुभने लगीं जब
वे बोले क्यों तमाशा कर रहा हूँ

तेरे आने की कुछ आहट हुई है
मैं फिर खुद को नया-सा कर रहा हूँ

भरोसा रोज़ दुनिया तोड़ती है
मैं अब खुद पर भरोसा कर रहा हूँ

अँधेरो, जोर तुम जितना लगा लो
मैं शायर हूँ उजाला कर रहा हूँ

बढ़ीं सरगर्मियाँ लो बंदिशों की
जो उड़ने का इरादा कर रहा हूँ

भरी महफ़िल में सच्ची बात कह कर
रक़ीबों में इज़ाफ़ा कर रहा हूँ।

(दो)

सूरज चाँद सितारे सब
धरती अंबर प्यारे सब

माना जग को जीत लिया
लेकिन खुद से हारे सब

जाने क्या पाने को ये
फिरते मारे-मारे सब

जन्नत में शैतान घुसे
दहशतज़दा 'शिकारे' सब

दीपक की लौ काँप रही
मस्ती में अंधियारे सब

प्यार, मोहब्बत, उल्फ़त के
धूमिल हुए नज़ारे सब

मज़हब के सौदागर ने
मेटे भाईचारे सब

मझधारों से गिला नहीं
गहरे मिले किनारे सब

'अंजुम जी' वे कहाँ गए
दुःख में यार तुम्हारे सब ?

(तीन)

लहरों पे उठी लहरें, पानी से डरा पानी
दरिया ने बगावत की, घर-घर में भरा पानी

किस ओर गया यारो, क्या हाल हुआ उसका
होता था कभी वह जो लोगों में खरा पानी

पानी क्यों नहीं दिखता पानी के कलर जैसा
है ताल के भीतर क्यों ये लाल-हरा पानी

साँसें ये नहीं साँसें, जीना ये नहीं जीना
आँखों में नहीं सपने आँखों का मरा पानी

होते ही सुबह चिड़िया, फिरती है परेशाँ-सी
मिल जाते ज़रा दाने, मिल जाता ज़रा पानी

बादल मत उड़ जाना, तरसा के ज़माने को
दरके है ज़मीं देखो, माँगें है धरा पानी। □



बोलती है बात

राकेश कुमार सिंह

‘वर्तमान साहित्य’ का मार्च-मई-2023 अंक संयुक्तांक के रूप में प्रकाशित हुआ है। यह अंक इस पत्रिका के महत्वाकांक्षी योजनाओं में से एक है। समकालीन स्त्री-लेखन को निवेदित यह ‘समकालीन महिला लेखन महाविशेषांक’ प्रख्यात कथा-लेखिका ममता कालिया के सम्पादन में आया है। पत्रिका में तीन सम्पादकीय है—एक सम्पादक संजय श्रीवास्तव की जो ‘वर्तमान साहित्य’ के अतीत पर प्रकाश डालने एवं सहयोगियों की भूमिका को रेखांकित करने में व्यय हो गई है। दूसरी विभूति नारायण राय की सम्पादकीय ‘यह एक सिलसिला है’ शीर्षक से प्रकाशित है। ‘स्त्री रचनाशीलता का आकाश’ शीर्षक से तीसरी सम्पादकीय ममता कालिया की है जो इस ‘समकालीन महिला लेखन महाविशेषांक’ की अतिथि सम्पादिका हैं। उपर्युक्त दो अतिरिक्त ‘सम्पादकीय’ न भी होने पर भी कोई विशेष अंतर नहीं आता। चाहे जो भी हो ‘समकालीन महिला लेखन’ पर यह एक महत्वपूर्ण विशेषांक है। ममता कालिया मानती हैं कि समकालीन महिला लेखिकाओं के लेखन में उर्वरता, ऊर्जा एवं उत्साह है और यह सुखद स्थिति है। सम्पादकीय में वे गीतांजलि श्री का उल्लेख करती हुई लिखती हैं, “गीतांजलि श्री के उपन्यास ‘रेत समाधि’ को विश्व सम्मान की पहली पंक्ति में ला दिया। स्त्री कलम को व्यापक प्रतिष्ठा इस गम्भीर रचना के माध्यम से प्राप्त हुई।”

पत्रिका का दुर्गद्वार संस्मरण दीर्घा है जहाँ ‘मेरे लिए निर्मल’ शीर्षक से निर्मल वर्मा पर उषा प्रियंवदा का संस्मरण है। इस संस्मरण से निर्मल वर्मा के लेखक व्यक्तित्व के कई पक्ष अनावृत होते हैं। इसी प्रकार मृदुला गर्ग ने ‘आधे सच की पूरक सच्चाइयाँ’ शीर्षक से इतिहास में स्त्रियों के उन अवदानों का गम्भीर एवं तर्कसंगत विश्लेषण किया है जिसे पुरुषवादी मानसिकता के इतिहासकारों ने मुख्य परिदृश्य से गायब कर दिया। नेताजी सुभाषचन्द्र बोस के दल में पुरुषों से तनिक भी कम भूमिका

स्त्रियों की नहीं थी, किन्तु वे उपेक्षित ही रहीं। ऐसे अनेक सन्दर्भों को इतिहासकार चारु गुप्ता के हवाले से जाना जा सकता है जिसे मृदुला गर्ग ने अनेकशः उद्धृत किया है।

प्रसिद्ध कवयित्री एवं स्त्री-चिन्तक अनामिका ने प्रेमचन्द और शिवरानी देवी के दाम्पत्य-जीवन एवं सामाजिक जीवन को ‘प्रेमचन्द घर में’ के बहाने उभारा है। यह विश्लेषण स्त्री-चिन्तन की दृष्टि से ही नहीं, प्रेमचन्द को नए सन्दर्भों में समझने की दृष्टि से भी सहायक है। रोहिणी अग्रवाल की पहचान प्रखर स्त्री-विमर्शकारों एवं आलोचकों में होती है। ‘समाज से कैफियत माँगते हुए सवाल’ शीर्षक अपने आलेख के माध्यम से ‘अतीत के चलचित्र’ को नए आलोक में देखने की कोशिश की है। एक ऐसा आलोक जो उसकी उपलब्धियों के साथ-साथ उसकी सीमाओं की ओर भी इंगित कर सके। गरिमा श्रीवास्तव का ‘देह श्रम : तब और अब’ शीर्षक आलेख ‘सेक्स वर्कर’ के अतीत और वर्तमान पर विचार करता है। प्रीति चौधरी का ‘सुभद्रा कुमारी चौहान’ विषयक आलेख जो तत्कालीन अनेक सामाजिक, ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक सन्दर्भों से जुड़ा है, सुभद्रा कुमारी चौहान का नया मूल्यांकन करता है। सीमा आज़ाद महिलाओं के सामाजिक-सांस्कृतिक व आर्थिक पक्ष को लेकर अधिक सक्रिय रहती हैं। ‘औरतें आंदोलन और संस्कृति’ शीर्षक अपने आलेख के केन्द्र में ‘शाहीनबाग’ और ‘किसान आंदोलन’ में स्त्री-प्रतिरोध को उन्होंने रेखांकित किया है। इस अंक में यह आलेख अलग आस्वाद का आलेख है। अलका प्रकाश इस पत्रिका के सम्पादन से संबद्ध हैं। उनका आलेख ‘सत्ता, प्रतिष्ठान और स्त्री अस्मिता’ सत्ता के स्वरूप एवं स्त्री-अस्मिता के पक्ष को विस्तार से विश्लेषित करता है। ‘हत्याओं के समय में प्रणय विकल कविताएँ’ कात्यायनी के इस कविता पर प्रियदर्शन की टिप्पणी और फिर कात्यायनी का अपना पक्ष सामान्य पाठकों के साथ-साथ कवियों के लिए भी महत्वपूर्ण है। असद जैदी, अनिल सिंह, प्रियंका दुबे, विमल कुमार, राकेशरेणु, इन्द्र कुमार आदि की टिप्पणियाँ भी कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। कहानियों में उषा किरण खान (‘मुझे मछली बनना है’), सारा राय (‘बदहवास आदमी और हम’), उर्मिला शिरीष (‘तिकड़म’), नीलाक्षी सिंह (‘लय’), जयश्री राय (‘आखिरी कविता’), मधु कांकरिया (‘बबुआ’), प्रज्ञा रोहिणी (‘माया मरी न मन मरा’) जैसे कथाकारों के साथ ममता सिंह (‘स्याही’),

ई-मेल : Dr.rakeshkumarsingh171444@gku.ac.in

निधि अग्रवाल ('चाँद और कौवे'), जमुनी बीनी ('नीया'), काव्या कटारे ('नई लकीरें') जैसी अल्प चर्चित, नई किन्तु ऊर्जावान् कथा-लेखिकाओं की भी कहानियाँ शामिल की हैं। नीलेश रघुवंशी, जसिंता केरकेट्टा, अनुराधा सिंह, वाजदा खान, प्रिया वर्मा, बिनू शारदा की कविताएँ इस अंक को समृद्ध बनाती हैं।

समय के साखी

'समय के साखी' का मई-जून, 2023 अंक युवा कविता को निवेदित है। इस अंक के अतिथि सम्पादक हैं प्रख्यात कवि राजेश जोशी। 2000 के बाद के युवा कवियों को इसमें विशेष स्थान दिया गया है। पत्रिका में युवा कवियों की कविताओं के साथ आलोचनात्मक आलेख भी हैं। चार खण्डों में कविता के बाद 'चीजों को नया करो, नया करने में ही सारी चुनौतियाँ हैं' शीर्षक से बातचीत आयोजित है जिसमें सविता सिंह, विजय कुमार, कुमार अंबुज, असंग घोष और राजेश जोशी, उपर्युक्त चारों खण्डों में अंत में क्रमशः बसन्त त्रिपाठी, शान्ति नायर, अनिल त्रिपाठी और प्रियदर्शिनी के आलेख हैं। इसमें अपेक्षाकृत चर्चित कवियों के साथ-साथ कई नए कवियों को भी स्थान दिया गया है जिनमें अकूत संभावनाएँ हैं; किन्तु उनकी बहुत कम कविताएँ प्रकाश में आ पायी हैं।



परिकथा

अपनी प्रचुर सामग्री के कारण 'परिकथा' (अंक-102) अनायास आकर्षित करती है। सर्वप्रथम तो इन अंक का सम्पादकीय जिसमें कर्नाट प्लेस में स्थित सेंट्रल न्यूज़ एजेंसी के बन्द हो जाने पर चिन्ता के ब्याज से पत्रिका, पुस्तक एवं पाठक के सिमटे हुए सम्बन्धों पर चर्चा की है। पत्रिका में पहला आलेख ब्रज कुमार पाण्डेय का है जिसमें देश के बहुलवादी स्वरूप, उसमें आए परिवर्तन एवं विखण्डकारी खतरों की गम्भीरता से चर्चा की गई है।



अब्दुल बिस्मिल्लाह सशक्त कथाकार तो हैं ही, साथ ही कथा की बनावट एवं बुनावट की अद्भुत विश्लेषण क्षमता उनके भीतर है। इनके संस्मरण, सम्पूर्ण परिवेश को मूर्तमान कर देते हैं। 'प्रेमचन्द : पुनरुक्ति-प्रकाश' प्रेमचन्द की कहानियों के पाठ एवं प्रकाशन का अत्यन्त प्रामाणिक अध्ययन है। इसी प्रकार प्रख्यात आलोचक शंभुनाथ पर केन्द्रित अरुण कुमार का आलेख 'इतिहास चिन्तन बक्रौल, शंभुनाथ में शंभुनाथ के अकादमिक लेखन के साथ-साथ उनके आंदोलनकारी व्यक्तित्व को भी शामिल किया है और बताया है कि उन्होंने इतिहास केवल लिखा ही नहीं है, रचा भी है। इस आलेख में अरुण कुमार ने बताया है कि इतिहास को तथ्यों का विवरण मात्र मानना रूढ़िवादी

इतिहास दृष्टि है। उसे (इतिहास को) ई.एच. कार की तरह वर्तमान से जोड़कर देखना चाहिए। शंभुनाथ पर दूसरा महत्वपूर्ण आलेख पूनम सिंह का 'आलोचना में खुली खिड़कियाँ' है। इस आलेख में उन्होंने शंभुनाथ की वैचारिकी में परम्परा बोध, अन्वेषण और विश्लेषण की विशिष्ट दृष्टि पर गम्भीरता से विचार किया है। शंभुनाथ पर 'इन्द्रधनुषी भारत के क्षय का दौर है यह' शीर्षक मृत्युंजय श्रीवास्तव का आलेख भी कम महत्वपूर्ण नहीं है।

शंभु गुप्त का स्त्री-विमर्श के प्रमुख विचारकों पर विचार करने वाला आलेख विशेष उल्लेखनीय है। अशोक शाह, सुधांशु मालवीय, शैलेय, कविता विकास, शिव कुमार यादव आदि की कविताएँ भी कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। यदि आज की कहानी में ग्रामीण सन्दर्भ पर प्रेम तिवारी का आलेख महत्वपूर्ण है, तो सुरेश सलिल पर विजय पंडित का स्मृति आलेख भी कम महत्वपूर्ण नहीं। समकालीन हिन्दी कविता में राकेशरेणु की कविताओं की अलग पहचान है। राकेशरेणु व्यर्थ के कोलाहलों से दूर रहकर लेखन के जीवन का महत्वपूर्ण अंश मानकर चलने वाले कवि हैं। राकेश कुमार ने राकेशरेणु की कविताओं को अंधेरे समय में उम्मीद की मशाल बताया है। यह इस अंक के महत्वपूर्ण आलेखों में से एक है। तरसेम गुजराल का 'कहानी की गतिशीलता-5' इस अंक के महत्वपूर्ण स्थानी स्तंभ है।

इस अंक में 'पथरों की दस्तान' (विद्याभूषण), 'निर्मम, निष्ठुर, बेशरम' (शकील सिद्दीकी), 'सर्वनाश' (ज्ञान चन्द्र बागड़ी), 'बलि' (गम्भीर सिंह पालनी), 'दाना-पानी' (तरसेम गुजराल), 'तितली' (संजय कुन्दन) और 'वयन' (शैलेन्द्र अस्थाना) जैसी महत्वपूर्ण कहानियाँ इस अंक को समृद्ध करती हैं।

देशधारा

साहित्य, चिन्तन और विमर्श को निवेदित 'देशधारा' का द्वितीय अंक देखकर प्रसन्नता हुई। एक तो यह पत्रिका शिलांग, मेघालय से निकलती है जहाँ हिन्दी पाठकों का आज भी अभाव है। दूसरे यह किसी सरकारी योजना या अनुदान से प्रकाशित न होकर निजी साधनों से प्रकाशित होती है जो आज के समय में दुःसाध्य है। यह वार्षिक पत्रिका है, अतः सम्पादक को अनुकूल सामग्री के चयन-संयोजन एवं इत्तर भाषा की सामग्रियों के अनुवाद के लिए थोड़ा समय मिल जाता है। यद्यपि यह सामान्य अंक है किन्तु इस अंक में समकालीन लेखन और विश्लेषण पर विशेष ध्यान दिया गया है। पत्रिका के सम्पादकीय ही 'समकालीनता के काल-निर्धारण और अवधारणा-चिन्तन' समकालीनता को निवेदित है। कुमार शुभा के आलेख के साथ-साथ उत्तरशती के विमर्शों पर भी विशेष सामग्री दी गई है।



रचनात्मक साहित्य से इतर सामग्री में 'अपने समय के कुछ सवाल' शीर्षक गोपाल प्रधान का आलेख विशेष महत्वपूर्ण है। 'रवीन्द्र मानस में प्रान्तवासी' शीर्षक सोमा वंदोपाध्याय का आलेख रवीन्द्र साहित्य के सन्दर्भ को समझने की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है।

'अथ आदिवासी विमर्श कथा' में पंकज मित्र ने अवसरवादियों को अनावृत्त किया है। पाब्लो नेरूदा जिनकी कविता का मूल स्वर प्रेम और

यथार्थ था, सम्पादक ने उनकी कविताएँ इस अंक में शामिल की हैं। इन कविताओं का अनुवाद किया है प्रख्यात कवि अकरुण कमल ने। इसी प्रकार निकानोर पारा की कविताओं के अनुवादक सुरेश सलिल हैं। थाईलैंड के कवि सुन्दरभू की कविताएँ भी महत्वपूर्ण हैं। हिन्दी कवियों में देवीप्रसाद मिश्र, एस. आर. हरनोट, कात्यायनी, स्वप्निल श्रीवास्तव एवं उषा दशोरा की कविताएँ विशेष आकर्षित करती हैं। कहानियों में 'तुम्हारा इंतज़ार है' (उषा किरण खान), 'फ़ेसबुक' (जयश्री राय), 'बंद दरवाज़ा' (मुरारी शर्मा) एवं 'ग्रहण' (रणीराम गढ़वाली) अपनी नई संवेदनात्मक भूमि के कारण हमें अपनी ओर आकर्षित करती हैं।

पुस्तक समीक्षा में 'वारसा डायरी' (रवि रंजन) पर गरिमा श्रीवास्तव ('कुछ तो है जिसकी पर्दादारी है') की समीक्षा काफ़ी रोचक है। इसी प्रकार 'नदी रंग जैसी लड़की' (एस.आर. हरनोट) पर रेनु त्रिपाठी की समीक्षा पठनीय है।

अनुसंधान

'अनुसंधान' इलाहाबाद विश्वविद्यालय के अनुसंधान समिति, हिन्दी एवं आधुनिक भारतीय भाषा विभाग की पत्रिका है जो शोध के उच्च मानकों को दृष्टिपथ में रखकर शुरू हुई थी। धीरेन्द्र वर्मा से लेकर आज तक इसके कई अंक प्रकाशित हो चुके हैं। वर्तमान अंक के प्रधान सम्पादक संतोष भदौरिया हैं। यह अंक 'आज़ादी के 75 साल' को निवेदित है। देश के आज़ादी मिलने (1947) से लेकर अब तक 75 वर्षों में अनेक सामाजिक, सांस्कृतिक एवं साहित्यिक परिवर्तन हुए हैं। इस अंक में इस दीर्घ यात्रा के मधुर और तिक्त दोनों ही अनुभवों को स्थान मिला है। पत्रिका किसी आलेख से न शुरू होकर इसी विश्वविद्यालय के ख्यातिलब्ध राजेन्द्र कुमार के साक्षात्कार से शुरू होती है। इस साक्षात्कार में अमृता ने राजेन्द्र कुमार से आज़ादी से जुड़े उनके निजी अनुभवों, आदर्श राजनेता एवं शिक्षक से जुड़ी किसी स्मृति विशेष के प्रति अपनी जिज्ञासा प्रकट की है जिसे राजेन्द्र कुमार ने संक्षेप किन्तु वस्तुनिष्ठ ढंग से बताया है। इसी प्रकार साहित्य-संस्कृति आदि के बारे में प्रश्न रखा है। आज़ादी की लड़ाई में कानपुर की भूमिका को विशेष रूप से रेखांकित किया गया है। इस प्रश्न पर राजेन्द्र कुमार ने अपेक्षाकृत विस्तार से उत्तर दिया है। दूसरा साक्षात्कार अंतर्राष्ट्रीय रंगकर्मी रतन थियम का है जिसमें क्रमशः राजकुमार सोनी, मनोज रूपड़ा एवं कैलाश बनवासी ने लिया है।

'क्रान्तिकारी आंदोलन के कुछ दुर्लभ सन्दर्भ' शीर्षक आलेख में समीर कुमार पाठक ने भारतीय नवजागरण के कई ऐसे महत्वपूर्ण सन्दर्भों को उभारा है जिससे इस दिशा में कार्य करने के लिए नवीन दृष्टि मिलती है। श्यामजी कृष्ण वर्मा (1857-1930), विवेकानंद, स्वामी रामतीर्थ आदि के 'भारत' और 'भारत के सवाल' सन्दर्भित अभिमत स्वाधीनता संघर्ष एवं नवजागरण के सन्दर्भ को नए प्रकाश में समझने की दृष्टि देता है। इसी प्रकार भीकाजी कामा, मदनलाल धींगरा, विनायक दामोदर सावरकर, लाला हरदयाल, सरदार सिंह राणा, सोहन सिंह भकना, कर्तार सिंह सराभा का सन्दर्भ भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। इसी प्रकार 'चाँद की राजनीति' शीर्षक आलेख नवम्बर, 1922 में इलाहाबाद से निकलने वाली 'चाँद' पत्रिका को केन्द्र में रखते हुए भारतीय स्वतन्त्रता आंदोलन का विश्लेषण करता है। आशुतोष पार्थेश्वर का यह आलेख

कई दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण है। कुमार वीरेन्द्र ने 'इलाहाबाद, साहित्यिक परिवेश और स्वतन्त्रता आंदोलन' शीर्षक आलेख में बालकृष्ण भट्ट, यशपाल, भीबो, महावीर प्रसाद द्विवेदी और अनेक क्रान्तिकारियों के दुर्लभ पक्ष को उभारा है। 'आज़ाद से आंशिक आज़ाद' शीर्षक आलेख में कमलानन्द झा ने इस बात पर बल दिया है कि आज़ादी प्राप्ति से अधिक और चुनौतिपूर्ण आज़ादी को सम्भालना है। 'विकेन्द्रीकरण, संसाधन और खुद मुख्तारी का विचार : महात्मा गाँधी और वंचित जन' शीर्षक आलेख में रमाशंकर सिंह ने महात्मा गाँधी और आम्बेडकर के अंतर्विरोध को प्रबल तर्कों से स्पष्ट किया है। 'भाषाई अस्मिता, राष्ट्र और आदिवासी' शीर्षक प्रभाकर सिंह का आलेख भी पठनीय है।

सबाल्टर्न

'सबाल्टर्न' का जुलाई, 2023 अंक प्रगतिकारी चेतना के पाठकों के लिए महत्वपूर्ण है। बहुजन चेतना का वाहक यह त्रैमासिक महेन्द्र सुमन (प्रधान सम्पादक), अरुण नारायण एवं संतोष यादव (सम्पादक) के सम्पादन में निकलती है। इस पत्रिका में सामाजिक, राजनैतिक एवं आर्थिक मुद्दों पर देश के गम्भीर चिन्तकों के आलेख हैं। पत्रिका सात खण्डों में विभाजित है जिसमें प्रथम खण्ड का प्रथम आलेख प्रसन्न कुमार चौधरी का है। इसमें 'फ़ासीवाद और हिन्दुत्व' को विस्तार से व्याख्यायित किया गया है। सामाजिक चिन्तक सतीश देशपाण्डे का आलेख 'हिन्दुत्व के चौसर पर जाति जनगणना का पासा भारी पड़ सकता है' शीर्षक आलेख भी इस अंक की उपलब्धि है। बिहार की कृषि मंडी पर सचिन कुमार व 'हिन्दुत्व मुक्त भारत की ओर' कँवल भारती का आलेख भी पठनीय है। बिहार में भूमि संघर्ष पर वीरेन्द्र गुप्ता व भारतीय जाति व्यवस्था पर अंकुर पालीवाल का आलेख विशेष महत्वपूर्ण है। 'जाईबाई चौधरी' पर अनिता भारती, विख्यात फुटबॉल खिलाड़ी पेले पर गेब्रियल लीओ और रंजीत गुहा पर रमाशंकर सिंह का आलेख महत्वपूर्ण है।



व्यंग्य यात्रा

'व्यंग्य यात्रा' में न तो प्रेम जनमेजय का नाम नया है और न ही 'व्यंग्य-यात्रा' का ही। अब तक 19 वर्षों में इसके 75 अंक प्रकाशित हो चुके हैं। 'पार्थेय' शीर्षक से 'वकील' (बालकृष्ण भट्ट), 'मैं लेखक से प्रकाशक क्यों बनूँ' (पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र) और 'शादी के बाज़ार में' (यज्ञ शर्मा) प्रकाशित सामग्री न केवल महत्वपूर्ण है, वरन् पत्रिका की प्रतिबद्धता और सम्पादक के विवेक का संकेतक भी हैं। 'चिन्तन' शीर्षक के अंतर्गत अरविन्द तिवारी का आलेख 'समकालीन व्यंग्य लेखन की चुनौतियाँ' विषयवस्तु, सपाटबयानी, आलोचकों की उदासीनता, सामाजिक प्रतिबद्धता का अभाव, कम होती व्यंग्य की धार, अख़बारी



लेखन, व्यंग्य में हास्य को संतुलित रखने, नए प्रयोग सम्बन्धी भाषा सम्बन्धी आदि, अनेक चुनौतियों पर प्रामाणिक विश्लेषण करता है। 'व्यंग्य का निर्धारण' शीर्षक आलेख में व्यंग्य के स्वरूप एवं उसकी भारतीय परम्परा पर प्रकाश डाला देवेन्द्र गुप्ता ने हास्य और व्यंग्य के बीच बारीक विभाजन तथा विद्रूप हास्य के कारण साहित्य में व्यंग्य के गिरते स्तर पर चिन्ता प्रकट की है। उन्होंने व्यंग्य के लिए नवीन समीक्षा पद्धति के अभाव पर भी चिन्ता जतायी है। एक ओर व्यंग्य के सम्यक मूल्यांकन को लेकर उपेक्षा का भाव है, तो दूसरी ओर व्यंग्य भी लोकप्रियता की अंधी दौर में अपना तेज खोता जा रहा है। सुशील त्रिवेदी ने अपने आलेख 'वर्तमान समय में व्यंग्य की आवश्यकता' में एक ओर अपनी अनुभूति को पाठकों के लिए संवेद्य बनाने हेतु व्यंग्य को आवश्यक माना है, तो दूसरी ओर इसकी सुदृढ़ परम्परा का हवाला भी दिया है। इन विवेचनात्मक आलेखों के अतिरिक्त विश्वनाथ सचदेव ('सड़काऊ कविता'), अरविन्द विद्रोही ('मुँह जैसा लोकतन्त्र'), हरिशंकर राढ़ी ('गालीवाद के साहित्यिक-सामाजिक सरोकार') जैसे गद्य व्यंग्य तथा यश मालवीय (नवगीत, गजल), विष्णु नागर, ओम निश्चल, सुभाष राय, चन्द्रेश्वर, संजीव कुमार आदि की कविताएँ इस अंक की उपलब्धि हैं।

सृजनलोक

'सृजनलोक', अक्टूबर 2022 मार्च 2023 का अंक पद्मश्री

उषा यादव पर एकाग्र है। नौ वर्ष की अल्पायु से लेखन की दुनिया में प्रवेश करने वाली उषा यादव आज अनेक उपलब्धियाँ प्राप्त कर चुकी हैं। संतोष श्रेयांश के कुशल सम्पादन में उषा यादव के लेखन के लगभग सभी पक्षों पर विचार हुआ है। इस अंक में शामिल संस्मरण एवं साक्षात्कार केवल उषा यादव को ही नहीं सन्दर्भित करते, अपितु उस परिवेश के समग्र वातावरण को प्रतिबिम्बित करते हैं। अंक में राजकिशोर सिंह, जयश्री चक्रवर्ती, शकुंतला कालरा आदि के संस्मरण अत्यंत प्रभावशाली हैं। वेदप्रकाश अमिताभ, जाकिर अली रजनीश, अखिलेश श्रीवास्तव चमन आदि ने अपने आलेखों में उषा यादव का वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन किया है। उन्होंने बाल साहित्य में प्रचुर लेखन किया है जिसका सम्यक मूल्यांकन मोहम्मद अरशद खान, मोहम्मद साजिद खान, परशुराम शुक्ल, रमा रश्मि आदि ने किया है। अंत में उनके समग्र लेखन से चयनित रचनाएँ हैं जिनके अवगाहन से उनके लेखन की गहराई एवं दायरा का अनुमान करना आसान होगा। □



विलक्षण काव्य-साधना...

पृष्ठ 41 से आगे

'सर्वभूतेषु य पश्यति स पंडितः' सार्वभौमिक सत्य को दूसरे शब्दों में उजागर करता है। इसी के साथ कबीर की पंक्तियाँ भी याद आ जाती हैं।

कवि की कविताओं में शाश्वत सत्य या कहें कि शाश्वत मूल्यों का विशेष महत्व है, किन्तु अपने युग की उन्होंने उपेक्षा भी नहीं की है। उन्होंने इस बात को स्वीकार किया है कि सामयिकता की उपेक्षा करके कोई भी कवि समाज के लिए कल्याणकारी साहित्य का सृजन नहीं कर सकता। तभी तो उन्होंने अनेक समसामयिक विषयों पर कविताओं की रचना की है। ऐसी कविताएँ छोटी अवश्य हैं, मगर 'गागर में सागर' भर देने वाली विषयवस्तु को उजागर करती हैं। तरुणी, वृद्धा का दर्द, उपयुक्त शब्दों का अनुपयुक्त जगह प्रयुक्त होना, मन को अवसाद की स्थिति से उबारना, आकाश में भी रक्त-पिपासु आतंकवादियों को देखकर त्राहि-त्राहि करते दिशाविहीन भयभीत होकर बादलों का भागना तथा विपत्तियों के अँधेरों से अंत तक लड़ने का प्रण लेना आदि भिन्न-भिन्न प्रकृति के तमाम विषयों पर भी कवि की दृष्टि गई है।

इन कविताओं का जन्म घर, चौराहों, खुली सड़कों और देश, समाज में घट रही ज़िन्दगी के यथार्थ के साथ उनके पास चलकर आई हुई अनुभूतियों के बिम्बों की नींव पर निर्मित हुआ है। कवि की भाषा स्वच्छ, सहज और सरल है। उसमें कहीं कोई उलझाव नहीं है। छंदों का घटाटोप भी नहीं है। कहीं-कहीं लोक-धुन अवश्य नज़र आती है। इनकी कविताओं में कहीं भी न तो अर्थहीनता नज़र आती है और न कहीं सम्प्रेषण की जटिलता के वर्तुल। साधारण बोल-चाल की भाषा का इस्तेमाल, हिन्दी-उर्दू के शब्दों के स्वाभाविक मिश्रण का प्रयोग, बात कहने का चुटीला अंदाज़, हर दृष्टि से कवि के भाव-विचार कविताओं के माध्यम से सीधे पाठक के अंतर्मन में प्रविष्ट होकर

स्पंदन करते हैं। प्रभाव के आधार पर उनकी कुछ कविताएँ नुकीली, तो कुछ मारक, तो कुछ उत्प्रेरक हैं। उनका काव्य मात्र सामाजिक चेतना तक ही सीमित नहीं है वरन जीवन-दर्शन, अध्यात्म, आस्था, विश्वास, पाखण्ड-खण्डन तथा यथार्थता को भी उन्होंने काव्याभिव्यक्ति प्रदान की है। कविताएँ शिल्प की सहजता को स्वीकार करते हुए आगे चलती जाती हैं, इसलिए बोझिल नहीं हैं, कविताएँ जहाँ एक तरफ़ नारी-चेतना पर केन्द्रित हैं, वहीं उनमें मार्क्सवादी-सामाजिक चेतना का गहरा बोध छलकता है, जिसमें मूल स्वर आस्था, जिजीविषा, संकल्प, निष्ठा और सामाजिक प्रतिबद्धता का है। जहाँ प्रगतिशील विचारधारा होने के कारण सामाजिक विषमता और मानवता के प्रति अन्याय व अत्याचार कवि के संवेदनशील हृदय को झकझोरता है, वहीं समाज से भ्रष्टाचार उन्मूलन के साथ-साथ राजनैतिक व्यवस्था में सुधार लाने की एक तड़प भी इनकी कविताओं में आसानी से देखी जा सकती है। कुछ कविताओं में प्राकृतिक सौन्दर्य के साथ-साथ अध्यात्मवाद व जिज्ञासा तत्त्व को उजागर करने के लिए कवि ने प्राकृतिक बिम्बों का भरपूर प्रयोग किया है। उनकी कविताओं की मूल प्रवृत्ति प्रसाद, 'निराला', 'नागार्जुन', हरिऔध, दिनकर की परम्परा को आगे बढ़ाती नज़र आती है। उनका दृष्टिकोण एकांगी नहीं है। उन्होंने जीवन और जगत को यथार्थ रूप से देखा है, किसी खास चश्मे से नहीं। इसी कारण इनके काव्य-संसार में जीवन की अवधारणाओं के अधिकांश सम्पुट देखने को मिल जाते हैं। इन कविताओं की सृष्टि के पीछे अवश्य अंतःप्रेरणा है और अभिव्यक्ति की अदम्य इच्छा। कवि अपनी अभिव्यक्ति के अभिप्रेत के सम्प्रेषण में सफल हैं, जो उनकी रचनात्मकता की सार्थकता को सिद्ध करती है। □

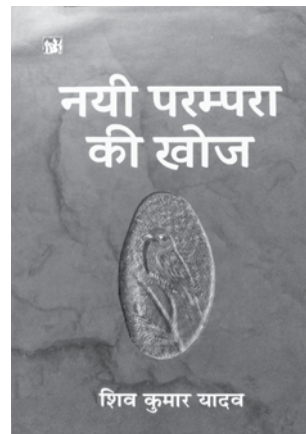


आलोचकीय विवेक का उभरता मानचित्र

जनार्दन

शिव कुमार यादव की 'नई परम्परा की खोज' पुस्तक में कविताओं पर किया गया विचार शामिल है। पुस्तक में 'राम की शक्ति-पूजा' से लेकर अशोक कुमार के 'कई-कई बार होता है प्रेम' तक का जायज़ा लिया गया है। इस तरह दोनों रचनाओं के बीच लगभग अस्सी साल का अंतराल है। 'राम की शक्ति-पूजा' संविधान लागू होने के पहले की और 'कई-कई बार होता है प्रेम' संविधान लागू होने के बाद की काव्य-पुस्तक है। इस पुस्तक का पाठ संविधान द्वारा प्राप्त मूल्यों से मिलान करके किया जाना चाहिए। देखा जाना चाहिए कि संविधान लागू होने से पूर्व और लागू होने के बाद काव्य रचयिता जो सोच-विचार कर रहे थे, आलोचक के रूप में शिव कुमार यादव उन मूल्यों की शिनाख्त कैसे करते हैं। मूल्यों की पहचान आलोचकीय विवेक से सम्भव होती है और आलोचकीय विवेक लिटमस पेपर की तरह होता है— 'एक आग का दरिया है और डूब के जाना है' प्रकार की परीक्षा।

निराला छायावाद के प्रतिनिधि कवि होने के साथ-साथ उस दोआब की तरह हैं, जहाँ प्रगतिशील साहित्य और दलित साहित्य दोनों जुड़ते व ऊर्जा ग्रहण करते दिखाई पड़ते हैं। 'राम की शक्ति-पूजा' महाकाव्यात्मक गढ़ाव के साथ-साथ लघु मानव की प्रतिष्ठा से युक्त है जैसे राम यहाँ ईश्वर नहीं, एक आम आदमी-से हताश और निराश हैं, जिन्हें शक्ति की जरूरत है। अर्थात् 'राम की शक्ति-पूजा' जरूरतमंद ईश्वर की कविता है। या यूँ कह लें कि आदमी में ईश्वर की प्रतिष्ठा की कविता है। आदमी भौतिक है। जगत भौतिक है। नितांत राममय होते हुए भी यह कविता भौतिकतावाद से जा मिलती है। कवि ने 'राम की शक्ति-पूजा' कविता को स्वाधीनता-संग्राम से जोड़ा है। उन्होंने इस कविता के लिए कहा है, "312 पंक्तियों में लिखी गई यह कविता, पराधीन भारत के सामाजिक-राजनैतिक-सांस्कृतिक जागरण का इस्पाती दस्तावेज़ है, जो एक ओर साम्राज्यवादी शक्तियों का विरोध करती है तो दूसरी ओर अपने भीतर (भारत के) स्थित ब्राह्मणवाद, जातिवाद, स्त्री-शोषण आदि कुरीतियों के तमाम अनछुए पहलुओं को उजागर कर उससे मुक्ति का प्रतिरोध रचती है।"



लेखक इस कविता में माता सीता की मुक्ति की कामना को पराधीन भारत से जोड़कर देखते हैं। यह कविता पौराणिक आख्यान की सीमा का अतिक्रमण करके अगर स्वाधीन चेतना से न जुड़ती, तो निराला का ध्येय पूरा न होता। यह कविता महाप्राण की आत्मा से तपकर उनके ध्येय और प्रेय की कविता बन जाती है।

छायावाद और उसके बाद के कविता परिसर में 'राम की शक्ति-पूजा' को एक अलग मुकाम हासिल है। परम्परा से जुड़े होने के बाद भी यह कविता परम्परा से भिन्न और मौलिक है।

संकलन का दूसरा आलेख भी निराला की कविता पर ही है। 'करती बार-बार प्रहार' शीर्षक वाला यह आलेख 'वह तोड़ती पत्थर' कविता पर आधारित है। कविताएँ भी इतिहास की थाती हुआ करती हैं और संवेदना के साथ तथ्यों को सहेजती हैं। इस कविता में आया 'इलाहाबाद' अब 'प्रयागराज' हो चुका है, मगर अपने तई यह कविता इलाहाबाद को सहेजे हुए है। जब तक यह कविता रहेगी, तब तक इलाहाबाद अक्षुण्ण बना रहेगा। लेखक इस कविता की ओर शब्दों के माध्यम से आलोचना के परिसर में दाखिल होते हैं। वे कहते हैं, कविता की पहली पंक्ति है— 'वह तोड़ती पत्थर'। यह पंक्ति देखने में जितनी सरल है, गूढ़ में जाने पर उतनी ही गम्भीर भी है। 'पत्थर' अपने-आप में अनेक अर्थ की छवियाँ लिए हमारे सामने उपस्थित होता है। यह 'पत्थर' कोई सामान्य पत्थर नहीं है, जिसे वह स्त्री तोड़ रही है, यह एक ऐसा सामंती, पुरुष वर्चस्ववादी पत्थर है, जो सदियों से स्त्री का दमन-शोषण करता चला आ रहा है जिसे वह स्त्री तोड़ रही है।

इस पुस्तक में निराला की ही तरह दो आलेख मुक्तिबोध पर भी केन्द्रित हैं। ऐसा इसलिए है, क्योंकि निराला की तरह मुक्तिबोध भी श्रम के सौन्दर्य के कवि हैं और अँधेरे का गहन वृत्त उनकी कविताओं में भी है। पहले आलेख 'मुक्तिबोध : काव्य का वैचारिक आधार' में मुक्तिबोध के वैचारिक आयतन, घनत्व और विस्तार का जायज़ा लिया गया है। लेखक ने मुक्तिबोध के यहाँ मौजूद गहन 'अँधेरे' को रेखांकित किया

....पृष्ठ 53 पर जारी



मनुष्य प्रतीक और तकनीक के जंजाल में कैद

चित्तरंजन कुमार

सत्य की तलाश में हमारा जीवन निरन्तर गतिशील है। सत्य के अनुसंधान की कोई भी तकनीक सार्वभौमिक नहीं है। बीतते पल हमारे जीवन को कठिन परिस्थितियों से सामना करने की शक्ति प्रदान करते हैं। वही पल हमारे जीवन को ऊर्जा प्रदान करते हैं। हमारे आस-पास की दुनिया इतनी कोमल और निःस्वार्थ नहीं है कि हमारा 'स्व' बिना किसी संघर्ष के बचा रहे। हम अपने आत्मसम्मान को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए अलग-अलग मोर्चे पर निरन्तर संघर्ष करते हैं। ऐसे ही कार्यों से हमारे अंदर संवेदना का विकास होता है। एक संवेदनशील प्राणी ही अपनी सोच का दायरा विस्तृत कर सकता है। जीवन की व्यापकता हमें बड़ी लड़ाई की ओर अग्रसर करती है और हम 'वसुधैव कुटुंबकम्' की भावना से प्रेरित होते हैं। दूसरे को अपना समझना आसान नहीं है, जैसे अदृश्य ईश्वर की तलाश लगभग नामुमकिन है। मनुष्य में ईश्वर के रूप को देखना आत्मशुद्धि की सरल प्रक्रिया है। मनुष्य की आत्मा का निश्छल होना दुर्लभ है। आज की वर्चस्ववादी झंझावातों ने हमारे बीच से इंसानियत को खत्म कर दिया है। ऐसी विकट परिस्थिति में साहित्य ही वह अस्त्र है, जो निरन्तर देश-दुनिया-समाज-परिवार-प्रकृति को बचाने की लड़ाई लड़ रहा है। साहित्य के इस संघर्ष को और तेज प्रदान करने का काम कवयित्री शोफाली ने किया है। शोफाली की कविताएँ अधिगम के नए द्वार खोलती हैं। उनकी कविताओं का मनोविज्ञान उनके द्वारा जीए हुए जीवन से होता है, जिसमें 'माँ' विशिष्ट हैं। शोफाली की रगों में दौड़ता हुआ लहू, लिखते वक़्त कई बार आँखों से टपक पड़ता है। यह जोखिम उनकी कई कविताओं को विशेष बनाता है। शोफाली का लेखन-संसार घर की चहारदीवारी से शुरू होकर आसमान में छुपे चाँद तक विस्तार पाता है। यह कवयित्री के कोमल हृदय की व्यापकता ही है कि केवल 'हथेली' पर पाँच क्रमबद्ध कविताएँ रच देती हैं। इनका सृजनकर्म दिखावटी नहीं है बल्कि आत्मिक अनुभूतियों से जनित है।

'अपनी हथेलियों में/ रात को उतार लाए हो तुम/ और चाँद बना कर/ मुझे अपनी मुट्ठी में/ बन्द कर लिया है तुमने' - (हथेली)

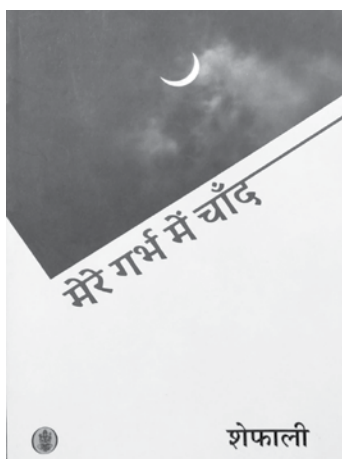
शोफाली की कविताओं का अक्स बहुआयामी है। शुद्ध जल की भाँति, उसमें किसी भी प्रकार के प्रतिबिम्ब में कोई परिवर्तन नहीं होता है। इसका अंदाज़ा इस कविता-संग्रह के शीर्षक से लगाया जा सकता है, 'मेरे गर्भ में चाँद, एक चाँद आसमान में और एक चाँद गर्भ में'। आसमान के चाँद को कोई भी महसूस कर सकता है या देख सकता है लेकिन गर्भ के चाँद को केवल कवयित्री की अंतर्दृष्टि ही महसूस कर सकती है। उनकी आंतरिक चेतना का विकास व्यापक है। वे अपनी संज्ञात्मक क्षमता के बल पर मानवीय संवेदना को गति प्रदान करती हैं। इनकी कविताओं का मूलार्थ गम्भीर है। शोफाली कविता के माध्यम से मानवीय यथार्थ के स्वीकार्य की क्षमता रखती हैं। आज किसी भी मामले या परिस्थिति को स्वीकार करने का साहस मनुष्य छोड़ चुका है, ऐसे में कवयित्री कहती हैं-

'मुझे प्रिय है/ अपना गर्भ/ क्योंकि इसके पुष्पित-पल्लवित होने के लिए/ मुझे स्त्री होना नहीं पड़ता/ ना ही एक पुरुष की खोज करनी पड़ती है/ मेरा गर्भ/ पेड़ों पर गीत गाते/ पक्षियों की लम्बी उड़ान/ और आश्रय है'।

ऐसे विचार दुर्लभ हैं। 'स्त्री-दर्शन' के नवीन द्वार खोलती, इनकी कविताएँ मारक क्षमता से लैस हैं। ये अपनी लेखनी से परम्परा पर चोट करती हैं, निःस्वार्थ भाव इनके दर्शन की कच्ची सामग्री हैं। इनका वैचारिक मनोविज्ञान मानवीय आवश्यकता के दृष्टिकोण को बदल देता है। ये अपने अस्तित्व से क्रान्ति पैदा करती हैं। पुरुषसत्तात्मक समाज को चुनौती दिए बग़ैर एक

नवीन दुनिया का सृजन करती हैं, जिसमें वृक्ष, पक्षियों के कलरव, नदी, हवा, पानी, आग आदि अपने स्वाभाविक रूप में उपलब्ध हैं। वास्तव में, इनकी कविताएँ शरीर को दरकिनार करती मन की कविताएँ हैं। ये अपने मन से संबल प्राप्त करती हैं-

'मेरे प्रिय/ चलो कि/ तुम्हारे एक क़दम से/ सैंकड़ों क़दम/ उठेंगे एक साथ/ मेरे प्रिय/ जागो कि/ अस्त होते/ समाज का सूर्य/ हममें से हर एक के/ माथे पर/ उदय हो रहा'। - (आह्वान)



दर्शन और आध्यात्म का घुलमिल जाना, श्रेष्ठ मनुष्य की पहचान है। उत्तर-आधुनिकतावाद ने सब चौपट कर दिया है। मनुष्य की श्रेष्ठता बाज़ार द्वारा निर्धारित होती है। मनुष्य प्रतीक और तकनीक के जंजाल में कैद है। ऐसे में आडम्बर का विस्तार स्वतःस्फूर्त है। वैश्विक बनने की अंधी दौड़ ने लोक संस्कृति का गला घोट दिया है। लोक-मंगल की कामना पुस्तकों में कैद है। बाज़ार का शोर हमें मानसिक रूप से विकलांग बनाने पर आमादा है। ऐसे समय में 'दमन' के उध्वाधर विकास को रेखांकित करती हैं—कविताएँ

'दमन के खिलाफ़/ दमन रहा है सदा/ दमनकर्ता-अहंकार/ दमनहर्ता-अहंकार/ और तो और/ दमन सहता-अहंकार।'

कविता जीवन को नज़दीक से देखने की अंतर्गता है। कविता का पक्ष जीवन को संबल देना है। कविता के पास जीवनदायिनी शक्ति है। जीवन के सर्वाधिक कठिन दौर में भी कविताएँ ऊर्जा प्रदान करती हैं। कविता के प्रति यह आशा-भरी दृष्टि आज भी उपलब्ध है। कविता का लोक, हमारे आस-पास के जीवन की व्यथा का हस्तलिखित दस्तावेज़ है। साहित्य में अपनी जगह बनाने वाली कोई भी कविता असंवेदनशील नहीं हो सकती है। कविता के हिस्से चाटुकारिता या सस्ती लोकप्रियता नहीं आती है। कविता का बहुआयामी-स्वरूप समुद्र की भाँति अति व्यापक है। जिन कवियों ने कविता के उपर्युक्त गुण-धर्म को आत्मसात किया है, उनकी कविताओं का मूलार्थ कालजयी बन जाता है। कविता का अर्थ-गाम्भीर्य कविता को विशिष्टता प्रदान करती है—

आलोचकीय विवेक का...

पृष्ठ 51 से आगे

है और उसे दूसरे कवियों के यहाँ आए 'अँधेरे' से अलगया भी है। इसी लेख में कहा गया है— "जहाँ तक अँधेरे का प्रश्न है तो हिन्दी साहित्य की इतिहास-परम्परा में इतना गहन अँधेरा पहली बार मुक्तिबोध के काव्य में आता है। इनके पूर्ववर्ती साहित्यकारों—निराला, धर्मवीर भारती, भारतेन्दु आदि में भी आता है, लेकिन इतना 'सघन अँधेरा' किसी के यहाँ नहीं।" निराला के यहाँ गहन अँधेरे के साथ-साथ उजाले की एक किरण दिखाई दे रही है, पर मुक्तिबोध के यहाँ कोई भी किरण नहीं दिखती, वे अँधेरे-से-अँधेरे में घुसते चले जाते हैं और हमारी जड़ों में जकड़े अँधेरे की शिनाख्त करते हैं।" कविता में अँधेरे की परम्परा की पहचान करते हुए इस संक्षिप्त लेख के माध्यम से शिव कुमार मुक्तिबोध के अँधेरे का भाष्य उद्घाटित करते हैं।

मुक्तिबोध पर दूसरा आलेख है 'पूरी दुनिया साफ़ करने के लिए मेहतर चाहिए'। यह आलेख 'मैं तुम लोगों से दूर हूँ' कविता पर आधारित है। मुक्तिबोध की यह कविता समाजवाद के ख़्वाब की राह में आने वाली अड़चनों की पड़ताल करने वाली कविता है। मुक्तिबोध ने इस कविता में सजग रूपकों द्वारा वर्ग-संघर्ष की स्थिति को सामने रखा है।

निराला और मुक्तिबोध की तरह धूमिल भी साँच और आँच के कवि हैं। इस किताब में धूमिल की 'पटकथा' पर एक लेख है। स्पष्ट है कि धूमिल की पटकथा भारतीय लोकतन्त्र की विषमता, विडम्बना और असफलता को समझने का सूत्र देने वाली कविता है। इसलिए ऐसी कविताओं का पाठ भारतीय राजनीति की विडम्बनाओं के पाठ जैसा आलोचकीय कर्म है। आलोचक ने इन विडम्बनाओं पर गम्भीरता से विचार भी किया है। लेखक पटकथा के पाठ की ज़रूरत को समझते हैं। ग्रामीण परिवेश का होने के कारण लेखक भूख के व्याकरण को भी ठीक-ठीक पहचानते हैं। इसी कारण वे पटकथा पर बातचीत करते हुए कहते हैं कि धूमिल ने 1968 के आस-पास ही भारतीय लोकतन्त्र और

'यह नमक/ कितनी बेपरवाही से डाला जाता/ और हो जाता है/हर बार/ परवाह करती माँ की तरह।' —(नमक)

'नमक' शीर्षक से शेफ़ाली की तीनों ही कविताएँ अद्भुत हैं। नमक का सम्बन्ध माँ से, मुफ़लिसी से और तो और इतिहास से जोड़कर, गाँधी एवं प्रेमचन्द तक को उद्धृत करने का साहस दिखाती हैं। सत्ता के चरित्र को कभी गाँधी ने अपने 'नमक आंदोलन' से उजागर किया था।

शेफ़ाली की कविताएँ शान्त मन की निश्छल वाणी हैं। इनकी कविताएँ माँ के प्रेम की भाँति मुलायम हैं। शहर की भीड़-भाड़ में भी सुकून की तलाश हैं इनकी कविताएँ। कविता में प्रयुक्त शब्दों का अर्थ विन्यास हमें जागृत करता है। हमारे मन की तरंगों को गति प्रदान करती हैं ये कविताएँ। अलौकिक प्रेम की वकालत करती कवयित्री प्रेम को असीम मानती हैं। प्रेम के प्रचलित अर्थ से भिन्न शेफ़ाली का प्रेम अशरीरी प्रेम है। प्रेम में जीने की लालसा नहीं है। प्रेम में मिट जाने का संकल्प है। इनके अंदर की यह आस्था स्वाभाविक है।

'उसके/ ज़र्रे-ज़र्रे पर/ नन्हीं-नन्हीं बूँदें/ तुम्हारा ही नाम तो नहीं/ लिख और मिटा रहीं।' —(तुम्हारा ही नाम)

निश्चित रूप से, शेफ़ाली की साहित्यिक तपिश कविता-संसार में उबाल पैदा करेगी। इनकी व्यापक दृष्टि कविता के नवीन समाजशास्त्र का आमुख रच चुकी है। कविता का टटकापन रोमांच भी पैदा करता है और आक्रोश भी। □

राजनीति की जिन बुनियादी समस्याओं की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया था, वे अभी तक सुलझ नहीं पाई हैं।

'नई परम्परा की खोज' में तुलसीदास की कविताई से लेकर लीलाधर मंडलोई, एकांत श्रीवास्तव, नीलेश रघुवंशी आदि से होते हुए सुभाष राय और अशोक सिंह तक की कविताओं पर गम्भीर बातचीत की गई है। कवियों और उनके काव्य-संकलन पर लिखने के दौरान लेखक की आलोचना का मानचित्र भी उजागर होता चला जाता है। पाठक उस मानचित्र को समझ सकता है। इस क्रम में कई आलेखों से गुज़रना सुखद आश्चर्य (से गुज़रने) जैसा अनुभव दे जाता है। इन आलेखों में समकालीन कविताओं पर जो चर्चा हुई है, वह बातचीत और बहस की दहलीज़ तक ले जाती है। 'मानसिक प्रदूषण का प्रतिकार करती कविताएँ' इसी तरह का अन्य आलेख है। आलेख में आलोचक की सम्यक दृष्टि देखने लायक है। बिल्कुल नई कविताओं पर आलोचक बहुत ठहराव और विश्वास के साथ अपनी बात रखता है। इस आलेख में तीन काव्य इन संकलनों 'जैसे कोई उदास लौट जाए दरवाज़े से' (ज्योति चावला), 'ध्रुवतारा जल में' (विवेक निराला) और 'वह औरत नहीं महानद थी' (कौशल किशोर) पर बड़े मन से लिखा गया है।

आलोचना की यह किताब समदर्शी है, क्योंकि आलोचक ने ऐसे कवियों का चयन किया है, जिसके बहाने हर विचार और हर समाज पर बात हो पाई है। पुस्तक का केन्द्रीय विषय मनुष्य है, मनुष्य की परेशानियाँ हैं और मनुष्यकृत क्षय है।

लेखक की यह पहली किताब है। उनके पास शब्द, कहन का अंदाज़ और प्रगतिशील विचार है। वह निरन्तर लिख रहे हैं। हिन्दी साहित्य, खासकर हिन्दी आलोचना को उनसे बहुत उम्मीद है। □

(कृति : 'नई परम्परा की खोज' ; लेखक : शिव कुमार यादव ; प्रकाशक : लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद ; पृष्ठ : 183 ; मूल्य : 150 रुपये)



रेडियो-नाटक लेखन



प्रकाशन विभाग, सूचना भवन,
सीजीओ कॉम्प्लेक्स,
लोदी रोड, नई दिल्ली-110003

पुस्तक : रेडियो-नाटक लेखन
लेखक : सत्येन्द्र शर्मा
पृष्ठ : 140
मूल्य : 170 रुपये

वैज्ञानिक आविष्कारों ने वर्तमान युग में साहित्य की जिन विधाओं को जन्म दिया है, उसमें फ़िल्म पटकथा के बाद सबसे महत्वपूर्ण और सर्वप्रिय विधा है- रेडियो-नाटक लेखन

रेडियो के आविष्कार के कारण जन्मे रेडियो नाटक ने श्रोताओं के लिए घर बैठे ही इस लोकप्रिय मनोरंजन को उपलब्ध करा दिया। वास्तविकता यह है कि नाटक प्रत्येक श्रोता की कल्पना के अनुसार मानसिक मंच पर अलग-अलग ढंग से अभिनीत होता है। श्रोता नाटक के विषय से सरोकार रखता है और यह कड़ी जोड़ने का काम सुगठित, सुलिखित रेडियो नाटक से ही सम्भव है।

सत्येन्द्र शर्मा रेडियो-नाटक लेखन की विधा में चिर-परिचित नाम रहे हैं। उनके द्वारा लिखित और प्रकाशन विभाग द्वारा प्रकाशित पुस्तक रेडियो नाटक लेखन इस विधा

की बारीकियों से पाठकों का परिचय कराती है। प्रसारण माध्यम तथा इस विधा से जुड़े नवोदित रेडियो नाटककारों के लिए तो यह पुस्तक अति उपयोगी है।

पुस्तक इस बात से परिचय कराती है कि कैसे साहित्य के इस नवीन और मौलिक रूप से ध्वनि और शब्दों का नाटकीय सामंजस्य होता है। कैसे सम्वाद, ध्वनि प्रभाव, संगीत और मौन के सहयोग से यह श्रोताओं के मानस पटल पर स्पष्ट शब्द-चित्र की सृष्टि करता है।

एक सशक्त श्रोताओं तक सम्प्रेषणीय रेडियो-नाटक लेखन में रेडियो नाटककार अहम भूमिका निभाते हैं। उनका लक्ष्य होता है कम समय में अधिक सम्प्रेषण। कई बार श्रोताओं की सम्वेदना, अनुभूति और प्रतिक्रिया एक जैसी होती है, कई बार बिल्कुल विपरीत। ऐसे अदृश्य और अपरिचित श्रोताओं के लिए नाटक लिखना अत्यंत कठिन कार्य होता है। इसलिए रेडियो नाटककार के समक्ष चुनौती होती है कि रेडियो नाटक के विषय में नवीनता हो, विषय-वस्तु में जो अपील हो, वह सीमित न हो, सार्वजनिक हो। वास्तव में रेडियो नाटक संक्षिप्त अवधि में मानवीय सरोकार से जुड़े मुद्दों के प्रति श्रोताओं में सामाजिक चेतना जगाता है। अतः प्रस्तुत पुस्तक इस माध्यम से जुड़े हर आम और खास के लिए अत्यंत उपयोगी साबित होगी।

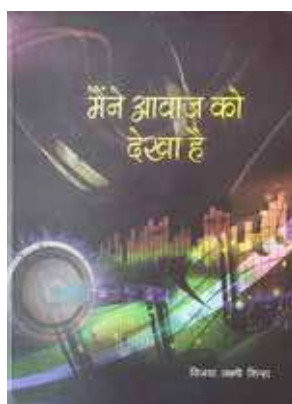
-प्रस्तुति : सीमा रानी

मैंने आवाज़ को देखा है

प्रकाशन विभाग की पुस्तक 'मैंने आवाज़ को देखा है' शीर्षक कई अर्थ ध्वनित करता है। लेखिका विजया लक्ष्मी सिन्हा की यह आत्मीय और रचनात्मक धरोहर है जिन्हें इन्होंने आकाशवाणी में बिताए अपने स्वर्णिम काल को समर्पित किया है। श्रीमती सिन्हा लगभग चार दशकों तक आकाशवाणी से जुड़ी रहीं। इस पुस्तक को सूचना एवं प्रसारण मन्त्रालय के भारतेन्दु पुरस्कार में प्रथम पुरस्कार मिला है।

स्वतन्त्रता के पूर्व और अब तक जन-जन से जुड़ी आकाशवाणी कई ऐतिहासिक पलों की गवाह रही है। यह पुस्तक उन्हीं महत्वपूर्ण पलों की साक्षी है। महत्वपूर्ण घटनाओं, व्यक्तियों, प्रसारण माध्यम की बारीकियों को इस पुस्तक में बेहद खूबसूरत शैली में प्रस्तुत किया है। प्रसारण के समय होने वाली कई घटनाएँ जिनसे श्रोता अंजान होते हैं किन्तु प्रसारणकर्ता जूझते रहते हैं। उन पलों की चर्चा इस पुस्तक को रोचक बनाती है।

पुस्तक में आकाशवाणी के हर विधा-रेडियो समाचार, साहित्य, संगीत, नाटक, महिला कार्यक्रम, बाल कार्यक्रम, ग्रामीण कार्यक्रम, विविध भारती पर विस्तार से चर्चा है।



प्रकाशन विभाग, सूचना भवन,
सीजीओ कॉम्प्लेक्स,
लोदी रोड, नई दिल्ली-110003

पुस्तक : मैंने आवाज़ को देखा
लेखिका : विजया लक्ष्मी सिन्हा
पृष्ठ : 220
मूल्य : 230 रुपये

पुस्तक में लेखिका ने जहाँ आकाशवाणी के गौरवगाथा को तारतम्यता दी है, वहीं प्रसारण के भीतरी दुनिया के श्रम, तपस्या और समर्पण का साक्षात्कार कराया है। किताब में शीर्ष प्रसारकों की जीवन छवि, उनके सरोकार और लुप्त विचार से परिचित कराया है। उन बुद्धिजीवी रचनाकारों के अवदान को भी अलोकित करता है जो समय के गर्द में धूमिल हो गए। उनके गर्द को हटाकर पूरी सहूलियत से उन व्यक्तियों को दर्शाती है। यह नाटक रूपक, संगीत रूपक की प्रस्तुतियों के इतिहास का हिस्सा रहा है। विशेष रूप से युद्ध के दौरान रेडियो के भी कार्यक्रम जिन्होंने जन-जागरण का काम किया। ड्रामा प्रोड्यूसर की चमकदार पीढ़ी के काम अब श्रेष्ठ प्रसारण के अनुपम उदाहरण हैं।

नए प्रसारकों के लिए यह किताब आधार भूमि के समान है। यह एक रोचक कृति है जिसमें लेखिका कई घटनाओं की प्रत्यक्ष साक्षी रही हैं। इसकी भाषा सरल, सहज और प्रभावमयी है।

-प्रस्तुति : ऋतुश्री



योजना
विकास को समर्पित मासिक
(हिंदी, अंग्रेजी, उर्दू व 10 अन्य भारतीय भाषाओं में)



प्रकाशन विभाग
सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय
भारत सरकार

कुरुक्षेत्र
ग्रामीण विकास पर मासिक
(हिंदी और अंग्रेजी)

आजकल साहित्य एवं संस्कृति का मासिक
(हिंदी तथा उर्दू)

बाल भारती बच्चों की मासिक पत्रिका
(हिंदी)

घर पर हमारी पत्रिकाएँ मंगाना है काफी आसान...

आपको सिर्फ नीचे दिए गए 'भारत कोश' के लिंक पर जा कर पत्रिका के लिए ऑनलाइन डिजिटल भुगतान करना है-
<https://bharatkosh.gov.in/Product/Product>

सदस्यता दें

प्लान	योजना या कुरुक्षेत्र या आजकल		बाल भारती	
वर्ष	साधारण डाक	ट्रैकिंग सुविधा के साथ	साधारण डाक	ट्रैकिंग सुविधा के साथ
1	₹ 230	₹ 434	₹ 160	₹ 364

ऑनलाइन के अलावा आप डाक द्वारा डिमांड ड्राफ्ट, भारतीय पोस्टल आर्डर या मनीआर्डर से भी प्लान के अनुसार निर्धारित राशि भेज सकते हैं। डिमांड ड्राफ्ट, भारतीय पोस्टल आर्डर या मनीआर्डर 'अपर महानिदेशक, प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय' के पक्ष में नई दिल्ली में देय होना चाहिए।

अपने डीडी, पोस्टल आर्डर या मनीआर्डर के साथ नीचे दिया गया 'सदस्यता कूपन' या उसकी फोटो कॉपी में सभी विवरण भरकर हमें भेजें। भेजने का पता है- संपादक, पत्रिका एकांश, प्रकाशन विभाग, कक्ष सं. 779, सूचना भवन, सीजीओ कॉम्प्लेक्स, लोधी रोड, नई दिल्ली-110003

अधिक जानकारी के लिए ईमेल करें- pdjucir@gmail.com

हमसे संपर्क करें- फोन : 011-24367453 (सोमवार से शुक्रवार सभी कार्य दिवस पर प्रातः साढ़े नौ बजे से शाम छह बजे तक)

कृपया नोट करें कि सदस्यता शुल्क प्राप्त होने के बाद सदस्यता शुरू होने में कम से कम आठ सप्ताह लगते हैं।
कृपया इतने समय प्रतीक्षा करें और पत्रिका न मिलने की शिकायत इस अवधि के बाद करें।

सदस्यता कूपन (नई सदस्यता/नवीकरण/पते में परिवर्तन)

कृपया मुझे 1 वर्ष के प्लान के तहत पत्रिका भाषा में भेजें।

नाम (साफ व बड़े अक्षरों में)

पता :

..... जिला पिन

ईमेल मोबाइल नं.

डीडी/पीओ/एमओ सं. दिनांक सदस्यता सं.

डाक तार पंजीयन सं. डी एल (एस) - 05/3222/2021-23 बिना पूर्व भुगतान के साथ आर.एम.एस. दिल्ली से पोस्ट करने के लिए लाइसेंस यू (डी एन)-49/2021-23

Magazine Post Regn. No. DL(DS)-42/ एम.पी.- 2022-23-24

दिल्ली डाक आर एन आई 701/57

Licenced U (DN) - 49/2021-23 to post without pre-payment at RMS Delhi

Delhi Postal RNI 701/57

● 10 अगस्त 2023 को प्रकाशित

● 21-22 अगस्त 2023 को डाक द्वारा जारी

● वार्षिक मूल्य : ₹ 230



हिन्दी सिनेमा के दिग्गज अभिनेता देव आनन्द
(26 सितम्बर, 1923 - 3 दिसम्बर, 2011)
शताब्दी वर्ष

प्रकाशक व मुद्रक : अनुपमा भटनागर, महानिदेशक द्वारा प्रकाशन विभाग के लिए एजुकेशनल स्टोर्स, गाजियाबाद (उ.प्र.) से मुद्रित एवं प्रकाशन विभाग, सूचना भवन, सीजीओ कॉम्प्लेक्स, लोधी रोड, नई दिल्ली-110003 से प्रकाशित। संपादक : फरहत परवीन